Con. 3. VII. 20. 48
350

अंक 7
संख्या 20

सोमवार
6 दिसम्बर
सन् 1948 ई.

भारतीय विधान-परिषद्

के

वाद-विवाद

की

सरकारी रिपोर्ट

(हिन्दी संस्करण)

विषय-सूची

पृष्ठ

विधान का मसौदा-(जारी)..... 1295-1373
[अनुच्छेद 19, 14 तथा 15 पर विचार]

भारतीय विधान-परिषद्

सोमवार, 6 दिसम्बर, सन् 1948 ई.

भारतीय विधान-परिषद्, कांस्टीट्यूशन हाल, नई दिल्ली में प्रातः 10 बजे समवेत् हुई। उपाध्यक्ष महोदय (डॉक्टर एच.सी. मुकर्जी) अध्यक्ष पद पर आसीन थे।

प्रतिज्ञा-ग्रहण और रजिस्टर पर हस्ताक्षर

निम्नलिखित सदस्य ने प्रतिज्ञा ग्रहण की तथा रजिस्टर पर हस्ताक्षर किया :

श्री के. चेंगलाराया रेड्डी (मैसूर)

विधान का मसौदा (जारी)

अनुच्छेद 19-(जारी)

***उपाध्यक्ष** (डॉ. एच.सी. मुकर्जी): अब अनुच्छेद 19 पर हम वादानुवाद जारी करेंगे।

***श्री लोकनाथ मिश्र** (उड़ीसा : जनरल): बार-बार यह बात यहां दुहराई हुई है कि हमारा राज्य एक असाम्प्रदायिक राज्य होगा, ऐहिक राज्य होगा। इस ऐहिकता को मैंने यही समझ कर स्वीकार किया था कि हमारा राज्य धर्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा और धार्मिक बातों में तटस्थ रहेगा। मेरा यह ख्याल था कि यहां की अहिन्दू जनता पर अपनी अधिकतम उदारता दिखाने के लिये ही हिन्दू प्रधान इस देश ने विभक्त भारत में अपने राज्य को असाम्प्रदायिक या ऐहिक बनाना स्वीकार किया है। ऐहिकता का ठीक-ठीक क्या मतलब है और हमारे देशवासियों के जीवन एवं व्यवहार-पद्धति पर राज्य कितनी दूर तक अपना नियंत्रण रखना चाहता है, इसे मैं अवश्य ही ठीक-ठीक नहीं जान पाया था। मेरा यही मत था कि जिन्दगी की इस तरह दर्जेबन्दी नहीं की जा सकती किन्तु फिर भी इस नये नारे को मानने पर मैं राजी हो गया।

---

*इस चिह्न का अर्थ है कि यह अंग्रेजी वक्तृता का हिन्दी रूपान्तर है।

***माननीय श्री जवाहरलाल नेहरू** (संयुक्तप्रान्त : जनरल): क्या सभा में लिखित भाषण पढ़ने की अनुमति है?

***उपाध्यक्ष:** साधारणत: लिखित भाषण पढ़ने की अनुमति मैं नहीं देता, किन्तु अगर कोई सदस्य यह समझता है कि अन्यथा वह उपस्थित विषय पर पूर्णत: अपना मत नहीं व्यक्त कर सकता तो उस सूरत में मैं लिखित भाषण पढ़ने की उसे अनुमति दे देता हूं।

***माननीय श्री जवाहरलाल नेहरू :** क्या मैं जान सकता हूं कि उपस्थित विषय क्या है?

***उपाध्यक्ष:** अनुच्छेद 19 के सम्बन्ध में श्री लोकनाथ मिश्र एक संशोधन पेश कर रहे हैं। मैं सभा से अनुरोध करता हूं कि वह इसकी स्वतंत्रता दे क्योंकि श्री लोकनाथ मिश्र एक विशेष दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और मेरा मत है कि इस दृष्टिकोण को सभा में अभिव्यक्ति मिलनी चाहिये।

***श्री लोकनाथ मिश्र:** धीरे-धीरे मुझे यह आभास मिलता जा रहा है कि 'असाम्प्रदायिक राज्य' का नारा धोखे में डालने वाली बात है और देश की प्राचीन संस्कृति को भुला देने के लिये ही यह कौशल काम में लाया जा रहा है।

19 से 22 तक के अनुच्छेदों से असाम्प्रदायिक राज्य का खोखलापन ज़ाहिर हो जाता हैं आखिर हम यह पूछते हैं कि क्या सचमुच हमारा यह विश्वास है कि जीवन से धर्म को बिलकुल पृथक् रखा जा सकता है? अथवा हम यह समझते हैं कि इतने विभिन्न धर्मों में से किसे स्वीकार किया जाये, यह निर्णय करना कठिन है? धर्म अगर हमारे राज्य की बुद्धि से परे की चीज़ है तो हमें साफ-साफ यह कह देना चाहिये और धर्म सम्बन्धी अधिकारों का विधान में जो उल्लेख किया गया है उसे हटा देना चाहिये। और अगर हम इसे ज़रूरी समझते हैं तो साहसपूर्वक हमें यह कह देना चाहिये कि धर्म का क्या रूप होना चाहिये।

***श्री एस. नागप्पा** (मद्रास : जनरल): माननीय वक्ता इतनी तेज़ी से पढ़ रहे हैं कि उनकी बात हम लोग समझ नहीं पाते हैं।

***श्री लोकनाथ मिश्र:** किन्तु व्यर्थ की उदारता दिखाकर धर्म पर रोक लगाना और साथ ही धर्म-प्रचार को मूलाधिकार का रूप देना कुछ विचित्र, बेतुकी और खतरनाक-सी बात है। न्याय का यह तकाज़ा है कि सहस्राब्दियों तक आक्रान्त रखे गये अपने प्राचीन धर्म एवं संस्कृति को अगर आप पूर्ववत् उसके महिमा मंडित स्थान पर आसीन नहीं करते हैं तो कम से कम उसके साथ न्याय का बर्ताव तो अवश्य ही कीजिए।

हजरत मुहम्मद से या ईसा मसीह से हमारा कोई झगड़ा नहीं है और न उनके विचारों और कथनों से हमारा कोई झगड़ा हैं। हमारे दिलों में उनके लिये पूर्णत: आदर का ही भाव है। मेरी समझ से वैदिक संस्कृति में कोई बात छोड़ी नहीं गई है। प्रत्येक विचारधारा और संस्कृति का अपना महत्त्व है किन्तु आज धर्म का नारा लगाना एक खतरनाक बात है। इससे मानव समाज में अनेकता पैदा होती है, वह सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है और लोग अपने-अपने दल बनाकर संघर्ष का मार्ग अपना लेते हैं। अनुच्छेद 19 में जो 'propagation' (धर्मप्रचार) शब्द रखा गया है उसका आज की स्थिति में आखिर क्या मतलब हो सकता है? इसका तो एकमात्र परिणाम यही होगा कि इससे हिन्दू संस्कृति के एवं हिन्दुओं की जीवन-पद्धति तथा आचार-पद्धति के पूर्ण विनाश का ही मार्ग प्रशस्त हो जायगा। इस्लाम ने हिन्दू विचारधारा के प्रति अपना शत्रुभाव घोषित कर रखा हैं। ईसाइयों की नीति यह है कि हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में दबे पांव प्रवेश किया जाये और इसी नीति पर वह अमल कर रहे हैं। यह इस कारण से सम्भव हो सका है कि हिन्दू मत ने अपने बचाव के लिए दीवारें नहीं खड़ी कीं। आखिर हिन्दुत्व क्या है? वह जीवन सम्बन्धी एक ऐक्य-मूलक विचारधारा है, संसार को एक मान कर चलने वाला एक दर्शन है जो एक सुसंगठित समाज (हिन्दू समाज) के रूप में मूर्तिमान् हो गया है ताकि शान्ति और सद्भावनापूर्वक यह समाज इस विचारधारा और दर्शन को कार्यान्वित कर सके। किन्तु हिन्दुओं की इस उदार विचारधारा का दुरुपयोग किया गया है और राजनीति ने हिन्दू संस्कृति को कुचल दिया है। आज भारतवर्ष में धर्म से कोई ऊंचा उद्देश्य नहीं सिद्ध होता है। हां, इसके नाम पर धर्मोन्माद को उत्तेजना प्रदान करने वाली एक पताका के नीचे जनता को इकट्ठा कर लोगों में अज्ञान की वृद्धि की जाती है, दारिद्रय का प्रसार किया जाता है और अपनी उच्चाभिलाषाओं की पूर्ति की जाती है आज तो धर्म के नाम पर राजनैतिक उद्देश्य सिद्ध किये जाते हैं क्योंकि आज की दुनिया में राजनैतिक शक्ति

[श्री लोकनाथ मिश्र]

का ही बोलबाला है और सच्चे मानव की कहीं कोई पूछ नहीं है। हर आदमी, जैसे भी ठीक समझे अपना जीवन-यापन करे किन्तु यह न होना चाहिए कि वह अपने दल की संख्या वृद्धि करे जिससे कि राजनैतिक युद्ध में लूट का हिस्सा उसे मिल सके। साम्प्रदायिक अल्पमत का प्रश्न हमें अब और न उठाना चाहिए क्योंकि बहुमत को कालान्तर में उदरस्थ कर लेने के उद्देश्य से ही यह युक्ति निकाली गई थी। इस प्रश्न का उठाया जाना असह्य और न्यायविहीन है।

वस्तुत: विश्व के किसी भी विधान में धर्म-प्रचार को मूलाधिकार का रूप नहीं दिया गया है और न इसे न्याय्य अधिकार ही माना गया है। आयरिश फ्री स्टेट के विधान में उस धर्म की विशिष्ट स्थिति को स्वीकार किया गया है जिसे वहां के बहुसंख्यक नागरिक मानते हैं। किन्तु भारतवर्ष में हम ऐसा करने में संकोच का अनुभव करते हैं। सोवियत रूस में धर्म सम्बन्धी पूजा-पाठ की स्वतंत्रता है और धर्म-विरोधी प्रचार की भी स्वतंत्रता है। किन्तु हमारे विधान में धर्म-प्रचार की स्वतंत्रता है पर किसी भी धर्म विरोधी प्रचार की स्वतंत्रता नहीं दी गई है।

अगर लोग अपने धर्म का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हें इसकी स्वतंत्रता दीजिए। मैं तो केवल यही चाहता हूं कि विधान में इसे मूलाधिकार का रूप देकर आप इसके लिए प्रोत्साहन न दें। मूलाधिकार अपरिवर्तनीय हैं और धार्मिक प्रचार को जहां एक बार विधान में आपने मूलाधिकार का रूप दिया कि उसका परिणाम यह होगा कि इससे लोगों में शत्रुता की भावना उत्पन्न होने लगेगी। इसलिए मेरा कहना यह है कि धर्म-सम्बन्धी अधिकार का हमें उल्लेख ही नहीं करना चाहिए। धर्म अपनी चिन्ता आप करेगा। अनुच्छेद 19 से 'propagate' शब्द को तो आप अवश्य ही निकाल दीजिए। वर्तमान सभ्यता बड़ी शीघ्रता से अपना रूप बदलती जा रही है और उसमें ज़बर्दस्त उथल-पुथल होने जा रहा है। ऐसी हालत में हमें सावधान हो जाना चाहिए और जीवित रहने की चेष्टा करनी चाहिए।

***उपाध्यक्ष:** मेरी सूची में दो संशोधन हैं अर्थात् नं. 592 और 593 के, ये दोनों एक ही आशय के हैं और इन पर एक साथ विचार किया जा सकता है। इनमें से नं. 593, जो श्री कामत के नाम में है अधिक विस्तृत है। मैं इसी को उपस्थित करने की अनुमति देता हूं।

*श्री **एच. वी. कामत** (मध्यप्रांत और बरार : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, मैं प्रस्ताव रखता हूं:

"कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के बाद निम्नलिखित नया उपखण्ड जोड़ा जाये:

'(2) The State shall not establish, endow, or patronize any particular religion. Nothing shall however prevent the State from imparting spiritual training or instruction to the citizens of the Union.' "

(राज्य किसी भी धर्म विशेष को न स्थापित करेगा, न उसके पक्ष में कोई व्यवस्था करेगा और न उसको प्रश्रय देगा। किन्तु किसी भी बात से, संघ के नागरिकों को आध्यात्मिक शिक्षा या उपदेश प्रदान करने पर राज्य के लिये कोई रुकावट न होगी।)"

इस संशोधन के दो भाग हैं। पहले भाग में यह कहा गया है कि राज्य धर्म से अपने को पृथक् रखेगा और दूसरे भाग में धर्म के गूढ़ तत्त्व अर्थात् आत्मा के सनातन महत्त्व के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है।

संशोधन के प्रथम भाग के सम्बन्ध में मेरे लिये केवल इतना ही कहना आवश्यक है कि यूरोप और इंग्लैण्ड का मध्यकालीन इतिहास—उस ज़माने का रक्त-रंजित इतिहास—इस बात का साक्षी है कि वहां चर्च और राज्य के गठबन्धन का कितना भयावह परिणाम निकला था। यह सच है कि यहां अशोक के शासन-काल में जब राज्य ने एक विशेष धर्म को अर्थात् बौद्ध धर्म को अपना लिया था तो कोई घरेलू झगड़ा नहीं उठा था। पर आपको इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि उस समय यहां बौद्धमत के सामने एकमात्र दूसरा धर्म केवल वैदिकधर्म ही था। व्यक्तिगत रूप से मेरा यह विश्वास है कि चूंकि अशोक ने बौद्धमत को राज्य-धर्म बना लिया था इस कारण से हिन्दुओं और बौद्धों के बीच कुछ आपसी झगड़े हुए थे और इसका परिणाम यह हुआ कि अन्ततोगत्वा बौद्धमत यहां से लुप्त ही हो गया। इसलिए मुझे तो यह साफ दिखाई देता है कि अगर राज्य किसी खास धर्म के साथ अपने को मिला देगा तो उसमें मतभेद की दरारें पड़ जायेंगी। आखिर राज्य तो अपने उन सभी नागरिकों का प्रतिनिधान करता

[श्री एच.वी. कामत]

है जो उसकी सीमा के अन्दर निवास करते हैं। इसलिए, राज्य के लिए यह कभी सम्भव नहीं हो सकता है कि वह अपने नागरिकों के किसी विशेष वर्ग के धर्म के प्रति ही अपनी निष्ठा रखे। किन्तु, श्रीमान्, कहीं लोग मेरी बात को गलत न समझ बैठें इसलिए मैं एक बात को स्पष्ट किये देता हूं। जब मैं यह कहता हूं कि राज्य को किसी खास धर्म के साथ अपने को न मिला देना चाहिए तो इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि राज्य अधार्मिक हो जाये अथवा धर्म-विरोधी बन जाये। अवश्य ही हम लोगों ने यह तो घोषित ही किया है कि भारतीय राज्य एक ऐहिक राज्य—असाम्प्रदायिक राज्य—होगा किन्तु मेरी समझ से ऐहिक राज्य से यह मतलब नहीं है; राज्य ईश्वरविहीन होगा अथवा वह अधार्मिक या धर्म-विरोधी होगा।

अब मैं 'धर्म' शब्द के वास्तविक अर्थ की ओर आता हूं। मैं यह दृढ़ता के साथ कहता हूं कि व्यापक अर्थ में 'धर्म' का यह अर्थ होना चाहिए कि लोग उसके वास्तविक माहात्म्य को, आत्मा के वास्तविक महत्त्व को समझें। मैं समझता हूं, श्रीमान्, कि हमें अपने नागरिकों को इस धर्म का बोध कराना चाहिए जिसे हमने अपनी विधान-परिषद् की मुहर में स्थान दिया है, जिसे हमने अपनी इस सभा की प्रकाशित कार्यवाही में 'धर्मचक्र प्रवर्त्तनाय' कह कर स्थान दिया है। यदि माननीय सदस्यवृन्द इस सभा-भवन से बाहर जाकर इसकी गुम्बद की छत की ओर दृष्टि डालें तो उन्हें वहां यह संस्कृत श्लोक अंकित मिलेगा:

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा:
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।।

वस्तुत: यही धर्म हमारा धर्म होना चाहिये। एक कवि ने धर्म का यों निरूपण किया है कि: 'येनेदं धार्यते जगत्' अर्थात् धर्म वह वस्तु है जिसके आधार पर यह विश्व टिका हुआ है। हमें धर्म का वस्तुत: यही अर्थ लेना चाहिये। हमारे महान् सूत्रों में, संस्कृत-साहित्य के महाकाव्यों में "अहम् ब्रह्मास्मि" कह कर, सूफीमत में "अनल हक" कह कर तथा ईसाई धर्मग्रंथों में "परम पिता परमात्मा और मैं एक ही हूं" कह कर धर्म का तत्त्व समझाया गया है। यदि इन सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाये और लोग इन पर चलने का अभ्यास करें तो इससे विश्व के सभी संघर्षों का अन्त हो जायेगा। आज भारतवर्ष को धर्म के इन्हीं तत्त्वों को अपनाना है और

इनकी शिक्षा देनी है, न केवल अपने ही नागरिकों को बल्कि समस्त मानव-जगत को। इसी पथ को अपनाकर संसार अपनी उस व्याधि से छुटकारा पा सकता है जिससे वह आज प्रपीड़ित है। महायोगी श्री अरविन्दु ने अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में एक स्थल पर यह कहा है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि सभा उनके कथन से पूर्णत: सहमत होगी। उन्होंने लिखा है:

> "वह सर्वोत्कृष्ट विचारा धारा जिसने भारतीयों के जीवन को, उनकी संस्कृति एवं उनके सामाजिक आदर्शों को सदा परिचालित किया है, वह यह है कि मनुष्य को सदा अपने सनातन एवं सुचेतन आत्मा के साक्षात्कार का प्रयास करना चाहिए और इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तथा अज्ञानावस्था से निकल कर परमज्ञान की अवस्था पाने के लिए ही उसे अपने पार्थिव शरीर को उपयोग करना चाहिए।"

आज इस सभा में अपने परम विद्वान् दार्शनिक आचार्य श्री राधाकृष्णन् को उपस्थित देख कर मैं बड़ा ही खुश हूं। गत दो-तीन वर्षों से विश्व को वह यही कहते आ रहे हैं कि उसकी व्याधि का मूल कारण भौतिक नहीं आध्यात्मिक है इसलिए भारतवर्ष का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह चिकित्सक का कार्य करे।

यदि हमें इस संयुक्त राष्ट्र-संघ को—जो कहने के लिए तो संयुक्त है पर वस्तुत: है असंयुक्त—सही अर्थ में संयुक्त बनाना है, यदि हमें इसकी अरक्षा-परिषद् को वस्तुत: सुरक्षा-परिषद् का रूप देना है, तो हमें पुन:आत्मा के महत्त्व पर ज़ोर देना होगा, सच्चाई और निष्ठा से भगवान को अपनाना होगा। हमारा भारतवर्ष चिरकाल से ही आत्मा के चिरंतन मार्हात्म्य का हामी रहा है।

अब मैं संशोधन के दूसरे हिस्से को लेता हूं जिसमें कहा गया है कि: "किसी भी बात से, संघ के नागरिकों को आध्यात्मिक शिक्षा या उपदेश प्रदान करने पर राज्य के लिए कोई रुकावट न होगी।" मैं इस हिस्से को बहुत महत्त्व देता हूं। भारतवर्ष आज युगों से आध्यात्मिक अनुशासन एवं आध्यात्मिक शिक्षा के लिए कए विशिष्ट पद्धति का हामी रहा है जो समस्त विश्व में 'योग' के नाम से ज्ञात है। महायोगी श्री अरविन्दु ने बार-बार यह बात कही है कि आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम अपने ज्ञान या चेतना का स्वरूप बदल दें और योगानुशासन द्वारा मानवता को ऊपर उठायें।

[श्री एच.वी. कामत]

एक पाश्चात्य लेखक श्री आर्थर कोस्टलर ने अभी हाल में ही "योगी या भोगी" (Yogi or Commissar) नाम की एक पुस्तक लिखी है। योगी आध्यात्मिकता की कामना करता है और भोगी भौतिकता की। यदि आप की अनुमति हो, श्रीमान्, तो मैं बताऊं कि इस पुस्तक में लेखक ने एक स्थल पर कहा है:

"क्या मानव समाज किसी डॉक्टर को पाना चाहता है अथवा किसी डिक्टेटर को? वह योगी होगा या भोगी? योगी कार्य करता है इस उद्देश्य से कि वह अपना स्वरुप निरूपण कर सके और भोगी—पूंजीपति—के कार्यों का लक्ष्य होता है भौतिक सम्पत्ति की अधिकाधिक अवाप्ति। पाश्चात्य प्रजातंत्र को और योगियों की जरूरत है।" यह पाश्चात्य लेखक इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है।

यहां सभा का ध्यान मैं इस बात की ओर आकृष्ट करूंगा, श्रीमान्, कि अनादि काल से उपनिषद् कालीन ऋषियों एवं द्रष्टाओं से लेकर महात्मा गांधी तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस तक हमारे सभी शिक्षकों ने आध्यात्मिक शिक्षा एवं आध्यात्मिक उपदेश को बड़ा महत्त्व दिया है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने तो यहां तक किया कि आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों के लिये आध्यात्मिक शिक्षा एवं उपदेश का पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिया। आज़ाद हिन्द फौज़ की पाठ्य सूची में आध्यात्मिक उपदेश को भी उन्होंने शामिल कर रखा था। मैंने संशोधन के पहले हिस्से में यह कहा है कि 'राज्य किसी भी धर्म-विशेष को न स्थापित करेगा, न उसके पक्ष में कोई व्यवस्था करेगा और न उसको आश्रय देगा' किन्तु धर्म से यहां मेरा मतलब है विश्व के धर्मों के बाह्य स्वरूप से। यहां धर्म शब्द से मेरा मतलब धर्म के व्यापक एवं निगूढ़ अर्थ से नहीं है। यहां 'धर्म' से मेरा अभिप्राय उस 'धर्म' से नहीं है जिसका मैंने संशोधन के दूसरे भाग में उल्लेख किया है। दूसरे भाग में तो मैंने यही कहा है कि राज्य अपने नागरिकों को आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करने के लिए जो कुछ भी कर सकता है करेगा।

अब अन्त में मैं केवल एक ही बात कहूंगा और वह यह है कि आज हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जो युद्ध से जर्जरित क्लांत है, जिसमें आध्यात्मिक माहात्म्य का महत्त्व बिल्कुल गिर गया है। आज विश्व आध्यात्मिक महत्त्व को भुला बैठा है और सर्वत्र ही यही भाव व्याप्त है कि प्रतिशोध लेना ही न्याय है।

अगर यह दुनिया पुनः आत्मा के महत्त्व की ओर वापस नहीं जाती और सच्चाई और निष्ठा से भगवान को नहीं अपनाती तो इसका विनाश निश्चित है। इन शब्दों के साथ, श्रीमान्, मैं सभा से सिफारिश करता हूं कि वह मेरे संशोधन को स्वीकार करे।

***उपाध्यक्षः** संशोधन नं. 594 और 595 एक ही तरह के हैं। संशोधन नं. 595 को उपस्थित करने की मैं अनुमति दे सकता हूं।

(संशोधन नं. 594 और 595 नहीं पेश किये गये।)

संशोधन नं. 596, डॉ. अम्बेडकर!

***माननीय डॉ. बी.आर. अम्बेडकर** (बम्बई : जनरल): मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) में 'preclude' शब्द की जगह 'prevent' शब्द रखा जाये।"

यह संशोधन केवल इसीलिए रखा जा रहा है कि यहां भी भाषा का वही रूप रहे जो अन्य अनुच्छेदों में रखा गया है।

***उपाध्यक्षः** इस संशोधन के सम्बन्ध में कई संशोधन आये हैं। इनमें से पहला है नं. 11 जो सूची नं. 1 में दिया हुआ है और पं. ठाकुर दास भार्गव के नाम में है।

(सूची 1 के संशोधन नं. 11 और 12 नहीं पेश किये गये।)

संशोधन नं. 18 मि. नज़ीरुद्दीन अहमद के नाम में है और मैं इसे उपस्थित करने की अनुमति नहीं दे सकता। इसमें प्रस्तावक ने यह मांग की कि "the State" शब्दों की जगह "any State" शब्द रखे जायें।

(संशोधन नं. 597, 598, 599 और 600 नहीं पेश किये गये।)

संशोधन नं. 601 प्रो. के.टी. शाह का है।

***प्रोफेसर के.टी. शाह** (बिहार : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के उपखण्ड (ए) में 'regulating or restricting any economic, financial, political or other

[प्रो. के.टी. शाह]

secular activity' (किसी आर्थिक, वैत्तिक, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की ऐहिक क्रियाओं का आनियमन अथवा आयंत्रण करती हो) शब्दों की जगह 'regulating, restricting or prohibiting any economic, financial, political or other secular activity' (किसी आर्थिक, वैत्तिक, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की ऐहिक क्रियाओं का आनियमन, आयंत्रण अथवा अपवर्जन करती हो) शब्द रखे जायें।"

खण्ड का संशोधित रूप यह होगा :

"इस अनुच्छेद की किसी बात से किसी वर्तमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा किसी विधि के बनाने में राज्य को अवरोध न होगा जो–

(क) धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वैत्तिक, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की ऐहिक क्रियाओं का आनियमन, आयंत्रण अथवा अपवर्जन करती हो...।"

ये हैं वे शब्द जिनको जोड़ने का मैंने सुझाव दिया है और मेरी समझ से ये आवश्यक हैं। अगर राज्य को यह अभीष्ट है कि ऐसे किसी धर्म के विरुद्ध या सम्बन्ध में जो धर्म के नाम पर ऐहिक प्रकार के कार्य करता है, चाहे वह कार्य आर्थिक या वैत्तिक अथवा राजनैतिक हो, वह अपने सर्वोच्च अधिकारों का प्रयोग कर सके तो इसके लिये अनुच्छेद में इन शब्दों का रखना परमावश्यक है। इसके लिए यह जरूरी है कि विधान में ये शब्द रहें।

यहां केवल 'आनियमन या आयंत्रण' शब्दों के रखने से मैं सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मैं चाहता हूं कि राज्य को इस बात का भी पूरा अधिकार हो कि वह ऐसी क्रियाओं का अपवर्जन कर सके। मेरी राय में ऐसी क्रियाओं के कारण धर्म का नाम बदनाम होता है। विश्व के कई सुप्रसिद्ध और दूर-दूर तक फैले हुए धर्मों के प्रति जनता की अवस्था उत्पन्न करने में और कोई कारण उतना सहायक नहीं हुआ है जितना कि यह कि इन धर्मों ने ऐहिक कार्यों के सम्पादन में हाथ बंटाया और इतना ही नहीं बल्कि बहुत ही उत्साह दिखाया जैसा कि प्रायः ऐसे कार्यों में

हुआ करता है। भौतिक सामग्रियों और सम्पत्तियों के संचय तथा भौतिक वैभव के कारण ही कई चिर-स्थापित चर्चों का विनाश हुआ। कई सुविख्यात धर्मों ने अपने प्रवत्तकों की शिक्षाओं और उनकी मौलिक भावनाओं पर चलना बन्द कर दिया है और आम जनता की निगाह में, इन्होंने बड़े ही निन्दनीय ढंग के व्यापार, वाणिज्य एवं राजनैतिक कार्यों को चला रखा है। अगर हमारे राज्य का यह दावा है कि वह एक ऐहिक या असाम्प्रदायिक राज्य है, अगर उसका यह दावा है कि वह हर प्रकार से पक्षपातशून्य है तो मेरी राय में उसे ऐसे कार्यों के न सिर्फ आनियमन और आयंत्रण का ही अधिकार प्राप्त होना चाहिए बल्कि उनके अपवर्जन का भी अधिकार उसे होना चाहिए।

बहुतेरे ऐसे व्यक्ति हैं जो धर्माध्यक्ष के आसन पर समासीन हैं या धर्म के नाम पर कार्य करने का दावा करते हैं, पर बड़े ही अवांछनीय ढंग के अनेकानेक सांसारिक कार्यों को चलाते हैं। ऐसे धर्माध्यक्षों का नामोल्लेख करके मैं किसी व्यक्ति की भावना को चोट नहीं पहुंचाना चाहता। इतनी ही बात नहीं है, ये काम उस विशेष सम्प्रदाय या वर्ग ही के लाभ या उन्नति के लिये किये जाते हैं जिनका कि उनसे सम्बन्ध है बल्कि प्राय: यही होता है ये सभी काम उस विशेष व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं जो उस समय उस सम्प्रदाय का धर्माध्यक्ष या प्रतिनिधि होने का दावा करता है। निजी सम्पत्ति का रखना, भौतिक सम्पत्ति का संचय करना तथा व्यापार द्वारा, सट्टे के द्वारा या अन्य ऐसे आर्थिक कामों के द्वारा, जिनको कि ये लोग धर्म के नाम पर या धार्मिक प्रमुख के नाते चलाते हैं, ऐसी सम्पत्ति का वर्धन करना—ये सब कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण बहुत-सी बुराइयां पैदा होती हैं जिनकी इस सभा के भोले-भाले सदस्य कल्पना भी नहीं कर सकते। जिन लोगों ने इस मसले पर छानबीन की है वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि धर्माध्यक्ष लोग धर्म के नाम पर न केवल उसी आमदनी पर आय-कर से छूट मांगते हैं जो धर्मादे के मद में उन्हें प्राप्त होती है बल्कि वह यह भी अधिकार चाहते हैं कि जायज़ या नाजायज़ रोजगार के जरिये, फाटके के जरिये तथा और अनेक काम से पूंजी लगाकर जो भी आमदनी वह करते हैं वह सब उनकी होनी चाहिये। मेरा कहना है कि राज्य के हित के लिये और खास करके उस नीति और उन सिद्धान्तों के हित के लिए जिन पर कि इस राज्य की स्थापना की गई है, यह परमावश्यक है बल्कि यों कहिये कि यही उचित है कि धर्म के नाम पर चलाये जाने वाले ऐसे अधार्मिक एवं अनाध्यात्मिक कामों के अपवर्जन का

[प्रो. के.टी. शाह]

अधिकार विधान में लिपिबद्ध कर दिया जाये जिनसे कि समस्त राष्ट्र का अहित होता हो, और उस धर्म का भी अहित होता हो जिसका प्रमुख बनने का वे लोग दावा करते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूं इस सम्बन्ध में मैं किसी धर्माध्यक्ष का उदाहरण यहां नहीं उपस्थित करना चाहता। मुझे पहले से ही यह मालूम है कि मेरे इस संशोधन की क्या गति होगी, अत: मेरे लिए यह अनावश्यक है कि ऐसे उदाहरण रखकर मैं सभा को और समझदार बनाऊं और उन वर्गों का आक्रोश मोल लूं जिन पर कि इस संशोधन का असर पड़ेगा।

***उपाध्यक्ष:** प्रोफेसर शाह, मैं आपको इसकी अनुमति नहीं दे सकता कि आप यहां ऐसी बातें कहें अर्थात् आप अपने संशोधन के भाग्य का उल्लेख करें और खास-खास वर्गों पर आक्षेप करें।

***प्रोफेसर के.टी. शाह:** मैं तो सिर्फ यह कह रहा था मेरे संशोधन की क्या गति होगी यह मैं जानता हूं। इस सम्बन्ध में उदाहरण उपस्थित करके मैं संशोधन की अवस्था को और जटिल नहीं बनाना चाहता क्योंकि इससे कई खास वर्गों पर असर पड़ेगा और मुझे उनकी नाराज़गी मोल लेनी होगी। अगर मैंने कोई अनुचित बात कही है तो उसके लिए मुझे खेद है और मैं आप से क्षमा चाहता हूं।

***उपाध्यक्ष:** मैंने यह नहीं कहा कि आपने 'अनुचित बात' कही है। किन्तु इससे सभा की प्रशान्ति पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा और मैं आप से अनुरोध करूंगा कि...।

***प्रोफेसर के.टी. शाह:** आपकी सभी आज्ञाओं को मैं शिरोधार्य करूंगा। आप चाहे इसे अनुरोध ही क्यों न कहें पर मैं इसे आपका आदेश ही समझूंगा। मेरे अच्छे से अच्छे संशोधनों के सम्बन्ध में जो अनुभव मुझे मिला है उसके आधार पर मुझे इतना कहने का तो हक है ही। किन्तु यदि आप अन्यथा समझते है तो मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करूंगा और अपना आसन ग्रहण कर लूंगा।

(संशोधन 602 और 603 नहीं पेश हुए।)

***उपाध्यक्षः** नं. 604, 605, 607 तथा 608 के संशोधन एक से हैं और इनमें से नं. 604 और 607 को पेश करने की मैं अनुमति देता हूं।

***उपाध्यक्षः** नं. 607—प्रो. के.टी. शाह!

***प्रोफेसर के.टी. शाहः** उपाध्यक्ष महोदय, मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के उप-खण्ड (बी) में 'or throwing open Hindus' (हिन्दुओं...) शब्दों के बाद 'जैनों, बौद्धों या क्रिश्चियनों, शब्द जोड़े जायें।"

मेरा संशोधन स्वीकृत होने पर खण्ड का रूप यह होगा :

".....for social welfare and reform or for throwing open Hindu, Jain, Buddhist or Christian religious institutions of a public character to any class or section of Hindus."

(जो सामाजिक कल्याण अथवा सुधार के लिए हो अथवा हिन्दुओं, जैनों, बौद्धों और ईसाइयों की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं को हिन्दुओं के किसी वर्ग अथवा विभाग के लिए खोलती हो।)

मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता, श्रीमान्, कि यह अधिकार या दायित्व केवल हिन्दुओं की ही धार्मिक संस्थाओं के खोलने तक क्यों सीमित रखा जाये। मैं समझता हूं कि इस खंड का अभिप्राय अच्छी तरह सिद्ध होगा अगर इस खंड को और विस्तृत रूप दे दिया जाये और इसे देश के उन सभी प्रमुख मतों, धर्मों के लिए लागू कर दिया जाये जिनकी धार्मिक संस्थाएं जो कम या बेशी अपने ही मतानुयायियों तक सीमित हैं और इस कारण से जो यह नहीं चाहते हैं कि धार्मिक संस्थाओं को सभी नागरिकों के लिए खोलने का आदेश देने वाले इस खंड को विधान में स्थान देकर उनकी धार्मिक स्वतंत्रता या पार्थक्य को दूर किया जाये।

मैं ऐसा समझता हूं, श्रीमान्, कि जब विधान में धार्मिक स्वतंत्रता की प्रत्याभूति दी गई है और इसे एक मूलाधिकार माना गया है तो इससे इस बात की सम्भावना पैदा होती है कि सभी धार्मिक संस्थायें सभी सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए खुल जायेंगी और वहां सभी प्रवेश पा सकेंगे। यह सम्भावना हमारे लिए एक बहुत

[प्रो. के.टी. शाह]

ही शुभ लक्षण है और इससे इस देश के विभिन्न मतानुयायियों में परस्पर ऐक्य और भ्रातृ भाव बढ़ेगा। इसलिए मेरा ख्याल है, श्रीमान्, कि इस संशोधन को तो उन लोगों की स्वीकृति अवश्य ही प्राप्त हो जायेगी जिन्होंने इस खण्ड को विधान में रखा है।

(संशोधन नं. 606 और 608 नहीं पेश हुए)

*__श्रीमती जी. दुर्गाबाई__ (मद्रास : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, मैं निम्नलिखित संशोधन को प्रस्तावित करती हूं:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के उप-खण्ड (बी) में 'any class or section' (किसी वर्ग अथवा विभाग) शब्दों के स्थान पर 'all classes and sections' (सभी वर्ग या विभाग) शब्द रखे जायें।"

अगर मेरा संशोधन स्वीकृत हो जाता है तो खण्ड का रूप यह होगा:

"That nothing in this article shall affect the operation of any existing law or preclude the State from making any law for social welfare and reform or for throwing open Hindu religious institutions of a public character to all classes and sections of Hindus."

(इस अनुच्छेद की किसी बात से किसी वर्तमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव अथवा किसी विधि के बनाने में राज्य को अवरोध न होगा जो सामाजिक कल्याण अथवा सुधार के लिए हो अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों या विभागों के लिए खोलती हो।)

उपाध्यक्ष महोदय, मेरे संशोधन का उद्देश्य है इस खण्ड के दायरे को और बढ़ाना। खण्ड का अभी जो रूप है वह यह है:

"...for social welfare and reform or for throwing open Hindu religious institutions of a public character to any class or section of Hindus."

(जो सामाजिक कल्याण अथवा सुधार के लिए हो अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं को हिन्दुओं के किसी वर्ग या विभाग के लिए खोलती हो।)

मेरी राय में खण्ड का जो वर्तमान रूप है उसमें उसका दायरा बड़ा सीमित है। मेरे संशोधन का अभिप्राय यह है कि इस खण्ड से और अधिक लोगों को फायदा पहुंच सके और यह सभी वर्गों और विभागों के लिए लागू हो सके।

यद्यपि हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम बड़े-बड़े सुधार कर सकें या इस दिशा में ही व्यापक सुधार कर सकें किन्तु मैं यह महसूस करती हूं कि हमें यहां हिन्दुओं के एक वर्ग या दूसरे वर्ग में कोई अन्तर न करना चाहिए।

हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं के सम्बन्ध में हम सभी को मालूम है कि ये संस्थाएं कई तरह की हैं। उदाहरण के लिए मन्दिर, धार्मिक मठ, शिक्षण-संस्थाएं या पाठशालाएं हैं जिनका कि संचालन इन्हीं संस्थाओं द्वारा होता है या जो इन्हीं संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। जहां तक मन्दिरों का सम्बंध है, हम सभी जानते हैं कि सभी प्रांतों ने और कई रियासतों ने मन्दिरों को सभी हिन्दुओं के लिए खोलने का कानून पास कर दिया है। किन्तु मुझे निश्चित रूप से यह भी मालूम है कि अन्य प्रकार की धार्मिक संस्थाओं के सम्बन्ध में जैसे कि पाठशालाएं तथा शिक्षण-संस्थायें या अन्य संस्थाएं हैं जिनका संचालन और प्रबंध इन्हीं धार्मिक संस्थाओं द्वारा होता है—अभी भी कुछ विभेद ज़रूर बरता जाता है। जैसा कि मैं बता चुकी हूं मेरा उद्देश्य यह है कि इस खण्ड का दायरा और विस्तृत हो जाये और हिन्दुओं के सभी वर्ग और विभाग इसके अन्दर आ जायें। इस संशोधन के स्वीकृत होने से यह उद्देश्य पूरा हो जायेगा। जैसा कि मैं बता चुकी हूं, हिन्दुओं के एक और दूसरे वर्ग में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए।

मेरा ख्याल है कि मेरे इन चन्द शब्दों से संशोधन का उद्देश्य अब स्पष्ट हो गया होगा। मैं सभा से सिफारिश करती हूं कि वह इसे स्वीकार करे। इन शब्दों के साथ मैं उसे उपस्थित करती हूं।

***उपाध्यक्ष:** संशोधन नं. 610 को उपस्थित करने की अनुमति नहीं दी जाती है क्योंकि निर्देशात्मक सिद्धान्तों में कुछ ऐसी ही बातों का समावेश है जिनके अन्दर यह आ जाता है।

(संशोधन नं. 611 नहीं पेश किया गया।)

नं. 612 मि. मुहम्मद इस्माइल तथा मि. पोकर साहब के संयुक्त नामों से आया है।

***माननीय श्री के. सन्तानम्** (मद्रास : जनरल): एक नियम सम्बंधी आपत्ति है, श्रीमान्, यह संशोधन नं. 612 अनुच्छेद 19 के सिलसिले में अप्रासंगिक है।

[माननीय श्री के. सन्तानम्]

संशोधन में वैयक्तिक कानून का उल्लेख किया गया है किन्तु यहां हम केवल धर्म-सम्बन्धी स्वतंत्रता के संबंध में विचार कर रहे हैं। इस संशोधन के अन्तर्गत आने वाला मसला पहले के एक अनुच्छेद में आ चुका है और निर्देशात्मक सिद्धान्तों में भी आया है।

***श्री मुहम्मद इस्माइल साहब** (मद्रास : मुस्लिम): मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि मेरा यह संशोधन इस अनुच्छेद के अधीन बिल्कुल नियमित है क्योंकि यह अनुच्छेद नागरिकों की धार्मिक स्वतंत्रता की चर्चा करता है और वैयक्तिक कानून धर्म पर आधृत है। मैं पहले एक अवसर पर यह स्पष्ट कर चुका हूं कि वैयक्तिक कानून (personal law) उन लोगों के धर्म का ही एक अंग है जो वैयक्तिक कानून को मानते हैं। मैं तो केवल इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि इस अनुच्छेद से किसी के लिये वैयक्तिक कानून मानने पर रुकावट न होगी। मैं इसे निषेधात्मक रूप में रख रहा हूं, क्योंकि अनुच्छेद में कहा गया है कि:

> "इस अनुच्छेद की किसी बात से किसी वर्तमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव अथवा किसी विधि के बनाने में राज्य को अवरोध न होगा जो–
>
> (क) धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वैत्तिक, राजनैतिक या अन्य किसी प्रकार की ऐहिक क्रियाओं का आनियमन, अथवा आयन्त्रण करती हो।"

वैयक्तिक कानून का व्यवहार में लाना भी धार्मिक आचरण से सम्बन्ध रखने वाली ऐहिक क्रियाओं में शामिल किया जा सकता है। इसलिए मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि जहां तक वैयक्तिक कानून का सम्बन्ध है, इस अनुच्छेद से उनके बरतने पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। मेरा यही कहना है।

***माननीय श्री के. सन्तानम्:** विधान में एक निर्देश रखा गया है जिसके द्वारा राज्य से यह कहा गया है कि वह एक-सी व्यवहार-विधि-संहिता बनाने का प्रयत्न करे और यह संशोधन इस निर्देश के बिल्कुल विरुद्ध है। इस कारण भी मैं समझता हूं कि इस प्रसंग में यह सर्वथा अनुपयुक्त है।

***उपाध्यक्षः** डॉ. अम्बेडकर, क्या आप इस सम्बन्ध में कुछ कहना पसन्द करेंगे? श्री सन्तानम् ने जो कारण पेश किए हैं उनको देखते हुए यह संशोधन नियमित है या नहीं इस सम्बन्ध में आपकी सम्मति मेरे लिए मूल्यवान होगी।

***माननीय डॉ. बी.आर. अम्बेडकरः** मैं अभी श्री रंगा से एक दूसरे संशोधन के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर रहा था और इसलिए...

***माननीय श्री के. सन्तानम्:** वैयक्तिक कानून के सम्बन्ध में जो संशोधन नं. 612 है उसे पेश करने की अनुमति मांगी जा रही है।

***माननीय डॉ. बी.आर. अम्बेडकरः** इस बात पर तो विचार किया जा चुका है। जब हम निर्देशात्मक सिद्धान्तों पर वादानुवाद कर रहे थे और फिर अभी उस दिन जब हम एक दूसरे संशोधन पर बहस कर रहे थे तो इस प्रश्न को हमने निपटा दिया था।

***श्री मोहम्मद इस्माइल साहबः** पहले अवसर पर मैंने इस संशोधन को अनिषेधात्मक रूप में उपस्थित किया था और आज मैं इसे निषेधात्मक रूप में रख रहा हूं। जहां तक निर्देशात्मक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, उनमें तो उन प्रयासों का उल्लेख किया गया है जिसे शासन को एक-सी व्यवहार-संहिता निर्माण करने में करना होगा। मान लीजिए उन्होंने वैयक्तिक कानून को नहीं रखा। पर इसका मतलब यह नहीं कि देश में एक-सी व्यवहार-संहिता बन ही नहीं सकती। खैर, व्यवहार-संहिता चाहे जैसी बने। यहां मैं यह कहता हूं कि इस अनुच्छेद के अधीन नागरिकों को धर्म के सम्बन्ध में कतिपय अधिकार प्राप्त हैं और वैयक्तिक कानून को इसमें नहीं लाया जायेगा। इस अनुच्छेद के प्रभाव में आने पर वैयक्तिक कानून के प्रश्न पर उसका कोई प्रभाव न पड़ेगा। मेरा यही कहना है।

***उपाध्यक्षः** वैधानिक दृष्टि से मैं सही हूं या गलत यह तो नहीं जानता किन्तु हमारे मुस्लिम बन्धु एक विचित्र परिस्थिति में पड़ गए हैं जिसे देखते हुए मैं मि. मुहम्मद इस्माइल को अनुमति देता हूं कि वह अपनी बात कहें और सभा के सामने अपना दृष्टिकोण पेश करें।

***श्री मोहम्मद इस्माइल साहबः** अनेकानेक धन्यवाद, श्रीमान्, कि इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सभा के सामने अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने का आपने मुझे पुनः अवसर प्रदान किया।

[श्री मोहम्मद इस्माइल साहब]

मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

''अनुच्छेद 19 में खण्ड (2) के बाद निम्नलिखित नया खण्ड रखा जाये:

'(3) Nothing in clause (2) of this article shall affect the right of any citizen to follow the personal law of the group or the community to which he belongs or professes to belong.' "

[(3) इस अनुच्छेद के खण्ड (2) की किसी बात से किसी नागरिक के अपने वर्ग या समुदाय के वैयक्तिक कानून को मानने के अधिकार पर कोई प्रभाव न पड़ेगा।]

मैंने जिस प्रावधान का सुझाव दिया है वह केवल इस बात को स्वीकार करता है कि अपने परिवारों या सम्प्रदायों के दायरे में लोगों के अपने कुल या जाति धर्म मानने का चिरकाल से अधिकार प्राप्त है। इससे दूसरे सम्प्रदाय के लोगों पर किसी भी तरह कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। दूसरे सम्प्रदायों के सदस्यों को अपने जाति अथवा कुल धर्म को मानने का जो अधिकार है उस पर इस प्रावधान से कोई आघात नहीं पड़ता है। इससे यह आशय नहीं निकलता है कि अन्य सम्प्रदाय के लोग अपने इस अधिकार के सम्बन्ध में कोई त्याग करें। इस प्रावधान का सम्बन्ध तो एक सम्प्रदाय के कतिपय परिवारों में प्रचलित प्रथा मात्र से है। यह तो केवल पारिवारिक प्रथा की बात है और कुल अथवा जाति धर्म तो केवल ऐसे मामलों में लागू होगा जैसे कि उत्तराधिकार, पैतृक-सम्पत्ति अथवा ट्रस्ट या वसीयतनामे के द्वारा सम्पत्ति की व्यवस्था। कुल या जाति धर्म के अधीन हमारा केवल ऐसी ही बातों से सरोकार है। दूसरे मामलों में जैसे साक्ष्य, सम्पत्ति का हस्तान्तरण, मुहायदा या अन्य इस प्रकार के असंख्य प्रश्न हैं, इनमें व्यवहार-संहिता के अनुसार ही चलना पड़ेगा और वही देश के प्रत्येक नागरिक के लिए लागू होगा चाहे वह किसी भी फिरके के क्यों न हों। अत: इस प्रावधान से, उस एकरूपता में कोई कमी न आयेगी जिसे राज्य व्यवहार-विधि सम्बन्धी मामलों में स्थापित करने की कोशिश करेगा।

कुल धर्म को मानने की प्रथा लोगों में चिरकाल से चली आ रही है। इस संशोधन के ज़रिये मैं इतना ही चाहता हूं कि इस चिरंतन प्रथा को अब कोई बाधा

न पहुंचाई जाये। मैं केवल यही चाहता हूं कि यह प्रथा जो लोगों में एक ज़माने से चलती आ रही है वह ज़ारी रहे, पहले एक मौके पर डा. अम्बेडकर ने कुछ ऐसे कानूनों का जिक्र किया था जिनका सम्बन्ध मुसलमानों के जाति धर्म, वक्फ, शरियत और उनके विवाह सम्बन्धी कानून से है। उस समय मुसलमानों के जाति धर्म के न्यूनन करने का कोई सवाल ही नहीं उठाया गया था। उसको नया रूप देने की बात भी नहीं हुई थी और जो कुछ किया गया था वह यही था कि मुसलमानों के जाति धर्म की व्याख्या की गई थी और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि ये कानून केवल मुसलमानों के लिए लागू होंगे। उस समय इनमें कोई संशोधन नहीं किया गया था। अत: ऐसी कोई बात करने के लिए, जिससे लोगों के कुल या जाति धर्म का खण्डन होता हो, इन कानूनों को नज़ीर के रूप में यहां नहीं पेश किया जा सकता। इस संशोधन के ज़रिये मैं जो कुछ चाहता हूं, वह यही है कि सभा को यह बात मान लेनी चाहिए कि यह तो ठीक है कि राज्य धर्म सम्बन्धी ऐहिक क्रियाओं के बारे में जो चाहे कर सकता है पर इसमें कुल या जाति धर्म को नहीं शामिल किया जायेगा और इससे कुल या जाति धर्म पर कोई प्रभाव न पड़ेगा।

अपनी आम राय ज़ाहिर करते हुए इस अनुच्छेद के बारे में मैं चन्द शब्द कहना चाहता हूं। मेरे मित्र मि. तजम्मुल हुसैन ने कुछ संशोधन—नं. 572 और 588—यहां रखे थे। इन संशोधनों को उन्होंने गम्भीर होकर रखा था या यों ही केवल पेश भी कर दिया था, यह बात, सच तो यह है कि न मुझे उस समय मालूम थी और न अभी मालूम है। अपने प्रस्तावों के पक्ष में उन्होंने जो बातें कहीं उन्हें भी मैं समझ नहीं सका। मैंने उनकी बातों को कोई महत्त्व नहीं दिया और मैं कह सकता हूं कि सभा ने भी उनकी बातों को महत्त्व नहीं दिया। इसलिए उनकी बातों का जवाब देकर मैं सभा का समय बर्बाद नहीं करना चाहता।

अपने धर्म को मानने का, उस पर आचरण करने का और उसका प्रचार करने का अधिकार मानव समाज को प्रारम्भ से ही प्राप्त है और न सिर्फ इस देश में बल्कि संसार भर में यह एक ऐसा अधिकार माना गया है जिसमें कभी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मैं समझता हूं कि ऐसी कोई बात न होनी चाहिए जिससे मानव के इस अधिकार पर अहितकर प्रभाव पड़ता हो। अनुच्छेद का वह अंश समुचित शब्दों में लिपिबद्ध किया गया है और इसे यों ही रहने देना चाहिए। मेरा यही मत है।

[श्री मोहम्मद इस्माइल साहब]

एक अन्य माननीय सदस्य ने झगड़ों या उपद्रवों का उल्लेख किया है जो धर्म-प्रचार के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। मैं कहूंगा कि ये झगड़े धर्म का प्रचार करने के कारण अथवा कोई धर्म मानने और उस पर आचरण करने के कारण नहीं उत्पन्न हुए। ये झगड़े तो धर्म को ठीक-ठीक न समझने के कारण ही पैदा हुए। मेरा अपना मत तो यह है, और मैं कहूंगा कि यही सही मत है, कि अगर लोग अपने-अपने धर्मों को ठीक-ठीक समझें और उन पर ठीक-ठीक और उचित रूप से आचरण करें तो कोई झगड़ा ही कभी न खड़ा होगा। चूंकि कुछ कारणों से पहले झगड़े खड़े हुए थे इसलिए मानव के धर्माचरण या धर्म-प्रचार सम्बन्धी अधिकार को ही कम कर दिया जाये, यह तो कोई तर्क-संगत बात नहीं है।

***उपाध्यक्ष:** अब इस खण्ड पर बहस की जा सकती है।

***पं. लक्ष्मीकान्त मैत्र** (पश्चिमी बंगाल : जनरल): मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि साधारणत: इस अनुच्छेद के क्या प्रभाव पड़ेंगे इसे बताने के लिए मुझे चन्द शब्द यहां कहने चाहियें ताकि मेरे कई माननीय मित्रों के दिमाग में जो गलतफहमी पैदा हो गई है वह दूर हो जाये।

मसौदे में रखे हुए इस अनुच्छेद 19 से सभी लोगों को यह अधिकार मिलता है कि वह जिस धर्म को पसन्द करें उसको मानें, उस पर आचरण करें और उसका प्रचार करें। किन्तु इस अधिकार को ऐसे कतिपय प्रतिबंधों द्वारा सीमित कर दिया गया जिन्हें लोक-व्यवस्था, लोकशील तथा लोक-स्वास्थ्य के हित में और विधान के अन्य प्रावधानों के अधीन रहते हुए आरोपित करने की राज्य को स्वतंत्रता होगी। मेरे कई मित्रों ने यह तर्क पेश किया है कि इस अधिकार को विधान में स्थान ही न देना चाहिए क्योंकि हम बार-बार यह घोषणा कर चुके हैं कि हमारा राज्य असाम्प्रदायिक राज्य होगा और इसलिए धर्म-सम्बन्धी आचरण को मूलाधिकार का रूप नहीं देना चाहिए। फिर आगे चल कर लोगों ने यह तर्क भी पेश किया है कि किसी विशेष धर्म या मत को मानने या उसका प्रचार करने का जो अधिकार दिया गया है इससे हर तरह के झगड़ों और बखेड़ों का रास्ता खुल जाता है और अन्ततोगत्वा इससे राज्य की अपनी स्वाभाविक गति ही रुक जायगी। बेहिचक, मैं यहां यह कहूंगा कि असाम्प्रदायिक राज्य के सम्बन्ध में जो लोगों ने

ऐसी धारणा बना रखी है वह बिल्कुल गलत है। जैसा कि मैं समझता हूं। असाम्प्रदायिक राज्य से यह मतलब है कि धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर राज्य किसी के भी विरुद्ध, चाहे वह जिस धर्म को मानता हो, कोई भेदभाव न बरतेगा। इसका मूल मतलब यह है कि राज्य की ओर से किसी भी खास धर्म को कोई प्रश्रय न मिलेगा। अन्य धर्मों के मुकाबले में या उनकी उपेक्षा करके, राज्य किसी खास धर्म को न स्थापित करेगा, न प्रश्रय देगा, न सहायता देगा। राज्य में किसी भी नागरिक के पक्ष या विरोध में, इस आधार पर कि वह किसी विशेष धर्म को मानता है, न तो कोई रियायत की जायेगी और न कोई भेदभाव बरता जायेगा। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि राज्य सम्बंधी कामों में कभी इस बात पर कोई भी ध्यान नहीं दिया जायेगा कि नागरिक किसी धर्म विशेष को मानते हैं या नहीं। मेरी समझ से असाम्प्रदायिक राज्य का यही मूल मतलब है। पर साथ ही हमें सदा यही कोशिश करनी चाहिए कि इस देश में लोगों को न केवल अपने धर्म को मानने का ही बल्कि उसके प्रचार करने का भी पूरा अधिकार प्राप्त हो। उपाध्यक्ष महोदय, हमारा यह गौरवशाली देश व्यर्थ है अगर यह धर्म तथा आयात्म सम्बन्धी इन ऊंचे विचारों और आदर्शों को अपने सामने नहीं रखता। भारत को आज कोई भी सम्मानप्रद स्थान न मिलता यदि उसने यह आध्यात्मिक श्रेष्ठता न प्राप्त की होती जो कि उसने अपने वैभवपूर्ण अतीत में प्राप्त की थी। इसलिए, मेरे विचार से यह ठीक ही किया गया है कि विधान में यह बात न केवल अधिकार के रूप में बल्कि मूलाधिकार के रूप में रख दी गई है। इस मूलाधिकार पर अमल करने में इस देश के हर सम्प्रदाय को, चाहे वह जिस धर्म को भी मानता हो, इस बात का समान अधिकार होगा, समान सुविधा रहेगी कि इस सम्बंध में रखे हुए प्रतिबंधों के अधीन रहते हुए वह अपने धर्म के अनुसार जो चाहे करे।

स्वामी विवेकान्नद जी कहा करते थे कि भारतवर्ष को आध्यात्मरूपी जो पैतृक सम्पत्ति मिली है उसके कारण ही उसको समस्त विश्व में आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। पाश्चात्य जगत को भौतिकतापरायण सभ्यता का समस्त बल प्राप्त है; विज्ञान निधि पाकर वह परम सम्पन्न है। आज विश्व में उसे सर्वप्रमुख स्थान मिला हुआ है, किन्तु फिर भी वह आज दरिद्र है क्योंकि उसका आध्यात्मिक कोष सर्वथा शून्य है और यहीं आकर भारतवर्ष की आवश्यकता पड़ती है। भारतवर्ष को अपनी इस अपूर्व आध्यात्मिक निधि को, अपने संदेश को

[पं. लक्ष्मीकान्त मैत्र]

पश्चिमी दुनिया को भेजना होगा। अगर हमें यह काम करना है, अगर हमें विश्व को शिक्षित बनाना है, और अगर हमें उन संदेहों को, मिथ्या धारणाओं को और उस गहन तिमिर को दूर करना है जो भारतवर्ष की सभ्यता और उसकी परम्परा के सम्बंध में सर्वत्र फैले हुए हैं तो यह अधिकार—इस भारतीय धर्म को मानने और उसका प्रचार करने का अधिकार—हमें देना ही होगा।

इस अनुच्छेद के सम्बंध में दी हुई कई वक्तृताओं को मैंने बड़े ध्यान से सुना है। धर्म-प्रचार सम्बंधी अधिकार पर आपत्ति की गई है और कहा गया है कि इसे विधान से हटा देना चाहिए। एक माननीय सदस्य ने तो यहां तक कह डाला कि अगर हम यह अधिकार देते हैं तो इसका फल यह होगा कि अभी हाल में हम लोगों ने जो विशाल नरमेध देखा है उसकी पुनरावृत्ति निकट भविष्य में ही, और ज़ोरों के साथ हो जायेगी। अपने मित्र की इस निराशावादिता से मैं रंचमात्र भी सहमत नहीं हूं। स्पष्ट है कि माननीय मित्र ने उन प्रतिबंधों पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है जो इस अनुच्छेद में रखे गये हैं। कतिपय अवसरों पर राज्य को हस्तक्षेप करने का इसमें जो अधिकार दिया गया है उससे उस भयंकर रक्तपात की कोई सम्भावना नहीं रह जाती है जिसका दृश्य अभी हाल में हमें देखने को मिला था।

यह भी कहा गया है—और मुझे इसका बड़ा दु:ख है कि यह बात एक ऐसे सदस्य ने कही है जिसकी खासी प्रतिष्ठा है, खासा स्थान है—कि ईसाई सम्प्रदाय ने औरों को ईसाई बनाने के जोश में कभी-कभी सीमोल्लंघन कर दिया है और ऐसे काम किये हैं जिनका औचित्य कभी भी नहीं प्रमाणित किया जा सकता है। अपने मन्तव्य के समर्थन में आपने बम्बई की एक घटना का उल्लेख किया।

***उपाध्यक्ष:** शायद आप भूल रहे हैं। जहां तक मुझे याद है किसी खास घटना का यहां उल्लेख नहीं किया गया है।

***पं. लक्ष्मीकान्त मैत्र:** जो भी हो, मेरा विश्वास है कि उनके दिमाग में यही बात थी। अगर मैंने सुनने में भूल की है तो इसके लिये मैं खेद प्रकट करता हूं। कहना मैं यह चाहता हूं कि अगर हम यही धारणा लेकर जायें तो महान् ईसाई

सम्प्रदाय के साथ बड़ा अन्याय होगा। भारतीय ईसाई-समाज सारे देश में सर्वाधिक शान्त और दु:ख न पहुंचाने वाला वर्ग है। मेरा अपना मत यही है और कभी किसी को मैंने इस मत का विरोध करते हुए नहीं पाया। जहां तक मुझे मालूम है, भारतीय ईसाई-समाज शिक्षा प्रदान करने में, चिकित्सा साहाय्य में, सफाई में, लोक-स्वास्थ्य को समुन्नत बनाने में, तथा अन्य ऐसे ही कामों में हर साल प्राय: दो करोड़ रुपये खर्च करता है। उनकी कितनी ही शिक्षण-संस्थाएं हैं। अनेक औषधालय और अस्पताल हैं जिनका वे ही कुशलता और सफलतापूर्वक संचालन कर रहे हैं। उनकी ये संस्थाए सभी सम्प्रदायों और वर्गों की सेवा कर रही हैं। अगर 2 करोड़ की यह लम्बी रकम वे लोग, लोगों को ईसाई बनाने के काम में लाते तो आज तो उनकी संख्या केवल 700 लाख है वह कहीं अधिक बढ़ गई होती।

***उपाध्यक्ष:** आप भूल रहे हैं। उनकी संख्या 170 लाख है।

***पं. लक्ष्मीकान्त मैत्र:** भूल के लिए क्षमाप्रार्थी हूं। 170 लाख से उनकी संख्या 700 लाख पहुंच गई होती। किन्तु मैं जो बात कह रहा हूं, उपाध्यक्ष महोदय, वह संख्या के सम्बन्ध में नहीं है। मेरे कहने का मूल मतलब यह है कि भारतीय ईसाई-समाज ने ईसाई बनाने का काम उस तेजी और उत्साह से नहीं किया है जैसा कि यहां कुछ मित्रों ने कहा है। मुझे इस गलतफहमी को दूर करने की बड़ी चिन्ता है। मैं ऐसा अनुभव करता हूं, श्रीमान्, कि भारत के हर सम्प्रदाय को अपने धर्म-प्रचार का अधिकार होना चाहिए। ऐहिक या साम्प्रदायिक राज्य में भी धर्म की आवश्यकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। हम एक भयंकर अधार्मिक युग से होकर गुजर रहे हैं। आखिर आज समाज के हर वर्ग में इतना पाप, इतना भ्रष्टाचार क्यों फैला हुआ है? इसका कारण यह है कि हम उन बातों के महत्त्व को भूल गये है जिनका उपदेश हमारे पूर्व पुरुषों ने हमको दिया था। आज हम अपनी इन गौरवशालिनी परम्पराओं की रंचमात्र भी चिन्ता नहीं करते और इसका परिणाम यह है कि हर आदमी अपनी ही मनचाही करता है जिससे न्याय, सद्बुद्धि और ईमानदारी को आज कहीं ठिकाना नहीं रह गया है। मूल्यांकन-ज्ञान को हमने सदा ही प्रिय समझा है और यदि इस ज्ञान को हम समाज में पुन: पूर्ववत् प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो इसके लिए यह परमावश्यक है कि हम जिस बात में विश्वास करते हैं, जिसको हम ठीक समझते हैं, उसका हम प्रचार कर सकें। धर्म-प्रचार

[पं. लक्ष्मीकांत मैत्र]

का यह मतलब नहीं है कि शक्ति के बल पर, तलवार के बल पर, धमकी देकर ही दूसरों को अपने धर्म में लाया जायेगा। अपने धर्म के महत्त्व को समझा कर, उसकी व्याख्या करके भी आप दूसरों को अपने धर्म के प्रति आस्थावान बना सकते हैं और इस पर कोई रुकावट क्यों लगाई जाये? यदि ऐसा करके अपने धर्म के प्रति किसी को आकृष्ट किया जाये तो इसमें क्या हानि है? मेरा अपना यही ख्याल है कि किसी धर्म को मानने का, उस पर आचरण करने का उसका प्रचार करने का जो अधिकार—मूलाधिकार—विधान में रखा गया है उसका मूलभूत सार यही है। इसलिए मेरी राय में इस अधिकार को विधान से हटाना नहीं चाहिए। यदि आज हमारे देश में लोग अपने-अपने धर्मों के सिद्धान्तों का, उनकी शिक्षाओं का जनता में ज्ञान करायें, उनको समझायें तो भिन्न-भिन्न धर्मों के सम्बन्ध में जो गलतफहमी आज लोगों में वर्तमान है वह बहुत कुछ दूर हो जायेगी और सम्भवत: हम एक ऐसी अवस्था में पहुंच जायेंगे जब कि हम परस्पर परामर्श द्वारा भविष्य में उन सब तरह के झगड़ों को उठने से रोक देंगे जो धर्म के नाम पर उठा करते हैं। इस दृष्टि से मेरा यह विश्वास है कि 'propogate' (प्रचार) शब्द यहां रहना चाहिये; इसे हटाना न चाहिए।

इस सम्बन्ध में मैं सभा को यह याद दिला दूं कि एडवाइज़री कौंसिल (परामर्शदात्र-समिति) में इन सभी मसलों पर विचार किया गया था और तब उसके बाद वहां यह शब्द रखना तय हुआ था। मुझे तो कोई कारण नहीं दिखाई देता, श्रीमान्, कि क्यों अब हम उस निर्णय से हट जायें। इसलिए इस खण्ड का मैं हृदय से समर्थन करता हूं और मेरा मत है कि माननीय मित्र डॉ. अम्बेडकर तथा श्रीमती दुर्गाबाई के संशोधनों के साथ इस खण्ड को हमें विधान में स्थान देना चाहिए।

***श्री एल. कृष्णास्वामी भारती** (मद्रास : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, आदरणीय मित्र पं. लक्ष्मीकान्त मैत्र की ललित एवं विशद वक्तृता के पश्चात् मैंने यह सोचा कि इस बहस-मुबाहिसे में मेरा अब भाग लेना व्यर्थ है। मैं अपने मित्र के इस कथन से पूर्णत: सहमत हूं कि 'propogate' शब्द यहां रहना चाहिये। आखिर हमें इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह केवल किसी सम्प्रदाय विशेष

के धर्म के सम्बन्ध में रखा गया है। साधारणत: लोग यही समझते हैं 'propagate' शब्द केवल ईसाई सम्प्रदाय के लिए ही रखा गया है। किन्तु मैं समझता हूं कि वर्तमान परिस्थिति में यह बहुत ही ज़रूरी है कि हम अपने देशवासियों को धार्मिक सिद्धान्तों और उपदेशों की शिक्षा दें। मेरा अपना अनुभव तो यही है कि धार्मिक विचारों के प्रचार के लिए जो सीमा निर्धारित की गई है उसका अतिक्रमण ईसाई सम्प्रदाय ने कभी नहीं किया है। कुल मिलाकर यही कहना होगा कि ईसाइयों ने इस सम्बन्ध में अच्छी तरह ही काम किया है। दूसरे सम्प्रदायों को उनका अनुकरण करते हुए अपने मत का प्रचार करना चाहिए। आमतौर पर यही समझा जाता है कि यह शब्द केवल एक विशेष धर्म अर्थात् ईसाई धर्म के लिए आता है। इस खण्ड को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि यह अधिकार सभी सम्प्रदायों के मतों के लिए है। इस बात को सभी अच्छी तरह जानते हैं कि सभी धर्मों का एक ही उद्देश्य है और जनता अगर धर्म का सही अर्थ समझे तो उसकी समझ में यह बात आ जायेगी कि सभी धर्म एक समान हैं और सबों की एक-सी ही शिक्षाएं हैं। सभी धर्मों में ईश्वर की ही महिमा बताई गई है। हां, यह ज़रूरी है कि सबमें उसके अलग-अलग नाम दिये गये हैं। यह शब्द यहां होना ही चाहिए और धर्म-प्रचार का अधिकार सबको मिलना ही चाहिए। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपना प्रचार कार्य कर सकते हैं। वह अपने धर्म का, उसके सिद्धान्तों का प्रचार कर सकते हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि अगर कोई व्यक्ति अपने धर्म का प्रचार करेगा तो उसे दूसरे धर्म की निन्दा करनी ही होगी। किसी भी धर्म का यह सिद्धान्त नहीं है कि दूसरे धर्म की निन्दा की जाये। अत: धर्म-प्रचार का अधिकार परमावश्यक है।

और फिर यह बात भी नहीं है कि हमारे राज्य का जो असाम्प्रदायिक या ऐहिक स्वरूप होगा उससे इस अधिकार का मेल नहीं खाता है। आखिर राज्य धर्म में तो दखल देगा नहीं। धर्म को तो लोग मानेंगे ही। धर्म तो एक वैयक्तिक विषय है। राज्य किसी एक या दूसरे धर्म के साथ पक्षपात नहीं करता। वह तो सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता बरतता है। अपने अतीतकालीन इतिहास को देखते हुए मुझे इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि धर्म के कारण यहां कोई झगड़ा न खड़ा होगा। अभी कल ही हमारे माननीय गवर्नर जनरल श्री राजाजी इस विषय पर बोले हैं। हमारे लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि हम सहिष्णुता दिखायें। सब धर्मों का यही सार है। यह कहना कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धर्म का, अपने मत का प्रचार न करें, एक ऐसी बात है जिससे हमारी असहिष्णुता प्रकट होती है।

[श्री एल. कृष्णास्वामी भारती]

इस सम्बन्ध में, सभा को मैं यह भी याद दिला दूं कि अल्पसंख्यक-समिति (Minority Committee) में जब इस विषय पर विचार किया गया था तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुंची थी कि अन्य भारतीय सम्प्रदायों के साथ महान् ईसाई समाज को भी, जो अपने को यहां के आम समुदाय में मिला देने को तैयार है, जो अपने लिए आरक्षण अथवा विशेषाधिकार नहीं मांगता है, अपने धर्म के प्रचार का अधिकार मिलना चाहिए।

इस अवसर पर मैं यह उल्लेख कर दूं, उपाध्यक्ष महोदय, कि स्वयं आप भी मद्रास और बम्बई की असेम्बली या विधान-मण्डलों में स्थान-सम्बन्धी आरक्षण छोड़ने पर तैयार हैं और ईसाई सम्प्रदाय को आरक्षण देने वाले खण्ड को हटाने के लिए आपने एक संशोधन की सूचना भी दी है। यही रही है ईसाई समाज की गतिविधि उसका दृष्टिकोण भी पूर्णतः राष्ट्रीय रहा है। इसलिए बहुसंख्यक सम्प्रदाय को सौजन्यपूर्वक यह अधिकार अल्पसंख्यक सम्प्रदायों को देना चाहिए और अपने लिए भी रखना चाहिए। मैं समझता हूं कि इस सम्बन्ध में कुछ विश्वास के साथ मैं यह कह सकता हूं कि बहुसंख्यक सम्प्रदाय यह अधिकार देने को पूर्णतः प्रस्तुत है। इसलिए शब्द 'propagate' (प्रचार) को यहां रखने के मैं पक्ष में हूं और इसका जोरदार समर्थन करता हूं।

***माननीय श्री के. सन्तानम्:** उपाध्यक्ष महोदय, इस अनुच्छेद का समर्थन करने के लिए मैं यहां खड़ा हुआ हूं। इस अनुच्छेद को हमें अनुच्छेद 13 के साथ पढ़ना चाहिये। अनुच्छेद 13 के द्वारा भाषण और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का तथा पार्षद् और संघ बनाने का अधिकार हमें मिल ही चुका है। इन अधिकारों में धर्म-सम्बन्धी भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा धर्म-सम्बन्धी पार्षद् या संघ बनाने के अधिकार भी शामिल हैं। इसलिये अनुच्छेद 19 का धर्म-सम्बन्धी स्वतन्त्रता से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना कि मैं कहूंगा, धर्म-सम्बन्धी सहिष्णुता से है। इन शब्दों का कि—"सब व्यक्तियों को विश्वास-स्वातन्त्र्य का तथा धर्म को अबाधरूपेण मानने और प्रचार करने का समान अधिकार होगा" कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वस्तुतः महत्त्व है यहां इन प्रतिबन्धमूलक शब्दों का जिससे कि

खंड शुरू होता है अर्थात् इन शब्दों का "लोक-व्यवस्था, शील तथा स्वास्थ्य...के अधीन रहते हुए।"

अब तक इस देश में यही समझा जाता था कि धर्म के नाम से जो बात भी सम्बन्ध रखती हैं उस पर अमल करने का, उसका प्रचार करने का अबाध अधिकार होना चाहिये। किन्तु अब हम इस नये विधान में इस अधिकार पर यह प्रतिबन्ध लगा रहे हैं कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए ही हम इस पर अमल कर सकते हैं। इस प्रतिबन्ध के क्या-क्या प्रभाव पड़ेंगे इसे जानना आसान नहीं है। स्वाभाविक है कि लोगों में ज्यों-ज्यों सामाजिक और नैतिक चेतना बढ़ती जायेगी, इन प्रतिबन्धों की जटिलतायें भी बढ़ती जायेंगी। उदाहरण के लिए मैं बताऊं कि शायद अभी एक दीर्घकाल तक भारतवासियों की समझ में यह बात नहीं आयेगी कि पर्दा प्रथा स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। इसी तरह हिन्दू धर्म में और भी कई प्रथायें हैं जिन्हें हमारे भावी समाज की चेतना नैतिकता के प्रतिकूल समझेगी।

यहां 'propagate' शब्द पर काफी बहस-मुबाहिसा हुआ है। आखिर प्रचार क्या है? अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य ही प्रचार है। मैं यह बात बताना चाहूंगा कि 'convert' शब्द यहां नहीं है। इस देश में ईसाई प्रचारकों के कार्यों का यह भी एक अंग था कि ये लोग सामूहिक रूप में लोगों को ईसाई बना लिया करते थे। जनता ने इस पर बड़ी ही आपत्ति की है। जिन लोगों ने विधान का यह मसौदा बनाया है उन्होंने इस बात की बहुत ही कोशिश की है कि किसी को भी धर्म परिवर्तन कराने का अबाध अधिकार न मिल जाये। लोगों को विचार की स्वतन्त्रता दी गई है और अगर कोई आदमी स्वेच्छा से अपने विचार के अनुसार अपना धर्म-परिवर्तन करता है तो ठीक है। इस पर कोई रुकावट नहीं डाली जायेगी। किन्तु अगर कोई सम्प्रदाय धन का अथवा अन्य किसी बात का अनुचित प्रभाव डालकर सामूहिक रूप में लोगों को अपने धर्म में लाता है तो ऐसे कार्य के आनियमन का राज्य को सब प्रकार से अधिकार है। इसलिये मैं आपसे यह कहूंगा कि यह खंड धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता से उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना कि वस्तुतः सहिष्णुता से रखता है। इसका मूल आशय यह है कि हमें सब के प्रति, चाहे उसका धर्म कुछ भी हो, सहिष्णुता बरतनी चाहिये। हां, यह पाबन्दी ज़रूर

[माननीय श्री के. सन्तानम्]

है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए ही इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।

इसलिए यह कहना होगा कि इस अनुच्छेद को बड़ी सावधानी से भाषाबद्ध किया गया है और इसमें जो अपवाद या प्रतिबन्ध रखे गये हैं वे भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितना कि वह अधिकार जो इसके द्वारा दिया गया है। अत: मैं समझता हूं कि इस अनुच्छेद का हार्दिक समर्थन प्रदान करना हमारे लिये परमावश्यक है।

***श्री रोहिणी कुमार चौधरी** (आसाम : जनरल): इस परम महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद पर चन्द बातें कहने का जो आपने मुझे अवसर प्रदान किया है इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूं। यह बात मुझे बड़ी ही अद्‌भुत सी प्रतीत हुई कि धर्म के सम्बन्ध में चार अनुच्छेद रखे गये हैं पर किसी भी अध्याय में कहीं भी ईश्वर का उल्लेख नहीं किया गया है। पहले तो यह बात मुझे बड़ी ही आश्चर्यप्रद मालूम पड़ी किन्तु खूब सावधानी से विचार करने के पश्चात् मैंने यह देखा कि यह हर तरह उचित ही है। जिस तरह दुनिया तरक्की करती जा रही है उससे इस बात में ज़रा भी शक नहीं रह जाता कि एक समय आयेगा जब हम ऐसी स्थिति में आ जायेंगे कि ईश्वर की बिल्कुल ही हमें ज़रूरत न रह जायेगी। हमसे और समुन्नत देशों में यह हो चुका है और इसलिए मेरा विश्वास है कि उसी स्थिति की व्यवस्था के लिए हमने यहां धर्म की चर्चा में जानबूझ कर ईश्वर को स्थान नहीं दिया है।

इससे मुझे एक कहानी की याद आ गई, श्रीमान्, जिसे मैंने छात्र जीवन में सुना था। एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक था जिसने एक राजा को भूमण्डल की शक्ल की एक गोल वस्तु उदाहरणस्वरूप दी। उसमें सम्पूर्ण सौर-जगत दिखाया गया था। राजा को ईश्वर में कुछ विश्वास था और उसने वैज्ञानिक से पूछा कि इसमें ईश्वर कहां है। वैज्ञानिक ने जवाब दिया कि बिना ईश्वर के ही मैंने यह बनाया है। ठीक यही दशा आज हमारी है। हम विधान बना रहे हैं, जिसमें धर्म की चर्चा कर रहे हैं। पर इस समूचे अध्याय में ईश्वर का कहीं उल्लेख नहीं है। यही देख कर तो मेरे माननीय मित्र श्री कामत ने अपने भाषण में ईश्वर का उल्लेख किया पर साथ ही उन्होंने आध्यात्मिक बातों की भी चर्चा की। "आध्यात्मिक शिक्षा" (spiritual

training) जैसे शब्द कुछ अस्पष्ट हैं और उनके कई अर्थ निकल सकते हैं। 'spirit' शब्द का अर्थ चेम्बर की डिक्शनरी में बताया गया है 'भूत' (ghost)। दुनिया में ऐसे लोग मौजूद हैं जो भगवान् से तो नहीं डरते पर भूत से डरते हैं। क्योंकि भूत विपत्तियां पैदा करते हैं पर ईश्वर ऐसा नहीं करता। 'spiritual training' का अर्थ समझना मेरे लिये कठिन है। मेरे माननीय मित्र श्री कामत का इन शब्दों से क्या अर्थ है? आखिर वह spiritual training (आध्यात्मिक शिक्षा) क्या है जिसका वह उल्लेख कर रहे हैं? क्या उनका मतलब है ऐसी शिक्षा से जिससे भूतों में विश्वास उत्पन्न हो? या वह उनसे बचने की शिक्षा दिलाना चाहते हैं या वह यह शिक्षा दिलाना चाहते हैं कि शाम के वक्त मस्ती पाने के लिये लोग स्प्रिट का सहारा लें? स्प्रिचुअल ट्रेनिंग से उनका क्या मतलब है इसे समझना कठिन है। क्या उनका यह मतलब है कि सभी संस्थाओं में बाइबिल, कुरान और गीता जैसे महान् धर्म ग्रन्थों की शिक्षा दी जाय और राज्य केवल इन ग्रन्थों की शिक्षा देने वाली संस्थाओं को ही सहायता प्रदान करे? मैं नहीं समझता कि उनका यह आशय हैं। इस बात को साफ-साफ बता देना चाहिये।

दूसरी बात है धर्म-सम्बन्धी प्रचार की। किसी भी धर्म के प्रचार के विरुद्ध मुझे कोई आपत्ति नहीं है। अगर कोई आदमी यह समझता है कि उसका धर्म बड़ा ही बुलन्द है तो उसका यह कर्त्तव्य है कि वह औरों से उस धर्म को मानने के लिए कहे। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, वह खुशी से ऐसा कर सकता है। किन्तु यहां मुझे आपत्ति इस बात को लेकर है कि विधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो तथाकथित धर्म-प्रचारकों को अन्य धर्मों की निन्दा करने से रोकता हो। उदाहरण के लिए मैं कहूंगा, श्रीमान्, कि हम सभी को यह याद है कि अतीत काल में किस प्रकार धर्म प्रचारक लोग देश में घूम-घूम कर कृष्ण भगवान का चरित्र-चित्रण निन्दनीय शब्दों में किया करते थे। हमें यह बात भी याद है और इसे याद करके बड़ा दु:ख होता है कि किस प्रकार ये लोग मूर्ति पूजा की निन्दा किया करते थे और देवताओं को अपशब्द कहा करते थे। नये विधान में हमें यह साफ-साफ बता देना चाहिए कि ऐसी कोई बात नहीं बरदाश्त की जायेगी। धर्म-प्रचार के सिलसिले में यह ज़रूरी नहीं है कि दूसरे धर्मों की निन्दा की जाये और उनके उन पहलुओं को सामने रखा जाये जो किसी धर्म विशेष के खास-खास समर्थकों की राय में सन्तोषजनक न हों। हमारे कानून में या यह

[श्री रोहिणी कुमार चौधरी]

कहिए कि खुद विधान में ही इस आशय का प्रावधान रहना चाहिए कि ऐसे आचरणों के लिए कठोर दण्ड दिया जायेगा। इन शब्दों के साथ, श्रीमान्, मैं इस संशोधन का, उन शाब्दिक परिवर्तनों के साथ जिनको कि श्रीमती दुर्गाबाई तथा माननीय डॉ. अम्बेडकर ने सुझाये हैं, मैं समर्थन करता हूं।

***श्री टी.टी कृष्णमाचारी** (मद्रास : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, मैं उस प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए खड़ा हुआ हूं जो सभा के सामने पेश है अर्थात् अनुच्छेद 19 का समर्थन करने के लिए मैं यहां खड़ा हुआ हूं। मेरे पहले कई वक्ताओं ने इस खण्ड विशेष के विभिन्न प्रावधानों पर तथा इस अनुच्छेद की रचना के पीछे जो कारण थे उन पर बहुत ज़ोर दिया है। मैं जिस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं वह यह है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच जो समझौते हुए हैं उनसे हमारा यहां कोई मतलब नहीं है। वस्तुत: हमें इस बात से कोई मतलब नहीं है कि अनुच्छेद के शब्दों के द्वारा आगे चल कर कोई सम्प्रदाय अपने धार्मिक विश्वास एवं प्रथाओं के प्रसार के लिए कुछ फायदा उठायेगा। हमें ज़ोर इस बात पर देना है कि हमारे नये शासन को, नये विधान को, वर्तमान स्थिति को इसी रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए और जब कि उसमें ऐसी कोई बात न हो जिससे हमारी मर्यादा, समता एवं न्याय सम्बन्धी भावनाओं को क्षति पहुंचती हो तो उनको जारी रखने के लिए विधान में जरूर प्रावधान होना चाहिए ताकि नये शासन में आकर जनता ऐसा न अनुभव करे कि यह परिवर्तन तो बुरा परिवर्तन रहा। मेरा ख्याल है कि इस उद्देश्य की प्राप्ति में यह अनुच्छेद बहुत ही सहायक है।

धर्म सम्बन्धी बातों के बारे में इस अनुच्छेद में यह कहा गया है कि : "अपने धर्म के मानने, आचरण और प्रचार करने का सबको एक समान अधिकार होगा"। यहां प्रचार सम्बन्धी अधिकार देने पर बहुत आपत्ति की गई है। आखिर यह अधिकार किसी खास सम्प्रदाय को, किसी खास धर्म के मानने वाले लोगों को ही तो दिया नहीं गया है। इससे हिन्दुओं को, आर्यसमाजियों को शुद्धि सम्बंधी प्रचार कार्य करने का वैसा ही अधिकार प्राप्त है जैसा कि ईसाइयों, मुसलमानों, जैनों, बौद्धों तथा अन्य मतावलम्बियों को अपने धर्म-प्रचार का अधिकार प्राप्त है। हां,

इस सम्बन्ध में यह प्रतिबंध अवश्य ही है, और वह प्रतिबंध सभी पर लागू है, कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा अन्य ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो कि सभी सभ्य शासनों में होता है, इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है। सवाल यह नहीं है कि किसी के अधिकार का अपहरण किया जाये। बल्कि सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि यह अधिकार सभी नागरिकों को प्रदत्त हों और कोशिश यह की जाये कि इन अधिकारों का प्रयोग लोग इस प्रकार से करें कि देश की अर्थव्यवस्था में कोई उथल-पुथल न हो, अव्यवस्था न उत्पन्न हो और लोगों के मन में अनुचित विरोध-भाव न उत्पन्न हो। मैं समझता हूं कि मूल बात यह है जिस पर इस अनुच्छेद के सम्बंध में हमें ज़ोर देना है। एक ऐसे व्यक्ति की हैसियत से जिसने कि ईसाई संस्थाओं में प्रायः 15 वर्षों तक शिक्षा प्राप्त की है, मैं यह जानता हूं कि मेरे साथ इस बात की कभी कोई कोशिश नहीं की गई कि मैं अपना धर्म बदल दूं और ईसाई मत पर चलने लगूं। हमारे आदर्शों पर, हमारे दृष्टिकोण पर ईसाई मत के जो प्रभाव पड़े हैं उन्हें मैं अच्छी तरह जानता हूं। मैं यहां यह कहने के लिए कदापि तैयार नहीं हूं कि ईसाइयों को अपने धर्म का प्रचार करने से रोका जाये। जहां तक कि इस प्रकार के धर्म परिवर्तन के इतिहास का सम्बन्ध है, मैं सभा से अनुरोध करूंगा कि वह इस सम्बन्ध में तथ्यों पर विचार करे। देखना यह है कि कतिपय धर्म-प्रचारकों और कई सम्प्रदायों ने अपने कम खुशकिस्मत भाइयों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करके उन्हें अपने धर्म में आने पर आमादा किया। तथ्य यह है कि इस देश के बहुत से लोगों ने जो ईसाई-मत को स्वीकार किया है वह बहुत कुछ तो इस कारण से किया कि ईसाई बन जाने पर उनको एक सम्मान का दर्जा मिल गया। इस तथ्य को हम क्यों भूल जाते हैं? एक अछूत ईसाई बन जाने पर हर बात में सवर्ण हिन्दुओं के समकक्ष पहुंच जाता है। ईसाई बनने में उसे यही विशेष लाभ है और इस विशेष लाभ को पाने की जो आज आवश्यकता है, अगर उसे ही दूर कर दें—और निश्चय ही यह एक बहुत बड़ा लाभ है बावजूद इसके कि कोई व्यक्ति उस मत में विश्वास रखने के कारण ही उसे स्वीकार करता है—तो ईसाई बनाने का कोई प्रलोभन किसी के लिए न रह जायेगा। मुझे इस बारे में कोई सन्देह नहीं रह गया है, श्रीमान्, कि हम एक ऐसी अवस्था में पहुंच गये हैं जिसमें इस बात का कोई

[श्री टी.टी. कृष्णमाचारी]

महत्त्व नहीं रह गया है, किसका क्या धर्म है, कौन व्यक्ति किस सम्प्रदाय या उप सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। अब कानून की दृष्टि में, समाज की दृष्टि में, सभी अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में सबको समता प्राप्त रहेगी। इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि धर्म परिवर्तन कराने के लिए लोगों पर जो भी अनुचित प्रभाव डाला जा सकता है वह या अन्य कारण जिनके आधार पर लोगों से धर्म परिवर्तन कराया जा सकता है अब न रह जायंगे। ऐसी हालत में, मैं समझता हूं कि उचित यही है कि वर्तमान स्थिति को हम धर्म के सम्बन्ध में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लें। जैसा कि मैंने पहले कहा है कि हर व्यक्ति को धर्म-प्रचार करने का और लोगों को अपने धर्म में लाने का अधिकार मिलना चाहिए अगर वह यह समझता है कि वह इसी के लिए पैदा हुआ है और ऐसा करना ही ईश्वर और अपने सम्प्रदाय के प्रति उसका कर्त्तव्य है।

राज्य की अक्षुण्णता की रक्षा का तथा जन हित का—और इस अनुच्छेद द्वारा इन सभी बातों की पूर्ति हो जाती है—सर्वोपरि ध्यान रखते हुए अगर आवश्यक हो तो उन रियायतों में कमी की जा सकती है जो यहां दी गई हैं वरना किसी धर्म के अनुयायी अगर ऐसा करते हैं तो मैं समझता हूं कि निकट भविष्य में सभी सम्प्रदायों के एक हो जाने की जो सम्भावना है उसके प्रति ही नहीं बल्कि अपने धर्म और सम्प्रदाय के प्रति भी वह अन्याय करते हैं। मैं इस अनुच्छेद का, जिस रूप में यह है, समर्थन करता हूं।

श्री के.एम. मुंशी (बम्बई : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, सभा के समक्ष मुझे चन्द ही बातें कहनी हैं। संशोधन नं. 607 के सम्बन्ध में, जिसे माननीय मित्र प्रो. के.टी. शाह ने पेश किया है, मैं उनसे पूर्णत: सहमत हूं कि यहां 'हिन्दू' शब्द का जो प्रयोग हुआ उसकी विस्तृत परिभाषा यहां दे देनी चाहिए। वस्तुत: 'हिन्दू बिल' में जिस पर कि विधान-परिषद् को विधान-मण्डल की हैसियत से विचार करना है, 'हिन्दू' शब्द की जो परिभाषा दी गई है उसमें सभी वर्ग, उपवर्ग आ जाते हैं किन्तु इस परिभाषा को इस खण्ड में रखने के बजाय भाष्य सम्बन्धी खण्ड में रखना अधिक उपयुक्त होगा।

'propagate' (प्रचार) शब्द के सम्बन्ध में जो आपत्तियां उठाई गई हैं उनके सम्बन्ध में मुझे कुछ ही शब्द कहने हैं। पूर्व के कई वक्ताओं ने यह विचार व्यक्त किया है कि इस खण्ड विशेष में जो 'प्रचार' शब्द रखा गया है उसके सम्बन्ध में हमें भयभीत होने की कोई जरूरत नहीं है। पूर्ववर्त्ती शासन-व्यवस्था की कल्पना करके ही हम उस शब्द के सम्बन्ध में आपत्ति करते हैं। पूर्ववर्त्ती शासन में ईसाई धर्म-प्रचारकों को और विशेष करके जो अंग्रेज़ थे उनको विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं। किन्तु 1938 के बाद से बम्बई के इलाके में तो मैं जानता हूं कि राजनैतिक सत्ता के कारण जो उनका प्रभाव था वह जाता रहा है। सन् 1937 में जब कांग्रेस-मंत्रिमंडल के हाथ में शक्ति आई तो बम्बई के इलाके में ईसाई धर्म-प्रचारकों का ज़िलाधीशों पर जो प्रभाव था और उसके ज़रिये जो लोगों को वे ईसाई बना लिया करते थे वह सब जाता रहा। उसके बाद से उस प्रदेश में धर्म-परिवर्तन की जितनी भी घटनायें हुई हैं उन सबमें यही हुआ है कि उपदेश के फलस्वरूप ही लोगों ने अपना धर्म बदला है और भौतिक लाभ के लोभ में नहीं। हम इस विधान के अधीन जिस राज्य का निर्माण करने जा रहे हैं वह एक असाम्प्रदायिक राज्य होगा। उसमें एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के मुकाबिले में कोई खास सहूलियत न मिलेगी और न अपने मतानुयायियों की संख्या बढ़ा कर ही कोई खास राजनैतिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में 'प्रचार' शब्द के रहने से सम्भवत: ऐसे कोई संकटपूर्ण परिणाम न निकलेंगे जिसकी कि कई सदस्यों ने यहां आशंका प्रकट की है।

इसके अतिरिक्त, अल्पसंख्यकों के साथ जो समझौते हुए हैं उनमें मैं भी शुरू से ही शामिल था और इनके परिणामस्वरूप ही इन विभिन्न खण्डों को विधान में स्थान दिया गया है। मैं जानता हूं कि भारतीय ईसाई सम्प्रदाय ने इस शब्द के रखने पर बहुत ज़ोर दिया है पर इसलिए नहीं कि वह लोगों को ईसाई बनाने के लिए ही खूब ज़ोरों से प्रचार-कार्य करना चाहते हैं बल्कि इसलिए कि 'प्रचार' शब्द उनके धर्म का एक मूलभूत सिद्धान्त है। अगर यह 'प्रचार' शब्द यहां न होता तो भी मुझे निश्चय है कि विधान में जो भाषण-स्वातंत्र्य की गारण्टी दी गई है उसके अनुसार किसी भी सम्प्रदाय को अधिकार है कि वह लोगों को अपने धर्म में लाने के लिए समझावे। अगर धर्म को सच्चे अर्थ में धर्म माना जाये तो इस

[श्री के.एम. मुंशी]

बात को भी स्वीकार करना होगा कि अपने ज्ञान पर स्वतंत्रतापूर्वक अमल करते हुए लोग धर्म-परिवर्तन करेंगे ही। अतः इस खण्ड में जो 'प्रचार' शब्द रखा गया है वह न असंगत ही है और न उससे संकटपूर्ण परिणामों की ही आशंका है जैसा कि कुछ लोग यहां समझते है।

स्पष्ट बात तो यह है कि इसके परिणाम कुछ भी क्यों न हों, हमने जो समझौते किये हैं उनको हमें मानना ही चाहिए। गत वर्ष से पहले वाले वर्ष में अल्पसंख्यक समिति ने अपनी रिपोर्ट के सभी प्रावधानों पर सभी सदस्यों की सहमति प्राप्त करके एक बहुत ही बड़ी सफलता प्राप्त की थी। सर्व सम्मति से जो उसकी रिपोर्ट स्वीकृत हुई उससे बहुसंख्यक सम्प्रदाय के अन्दर ऐक्य और आत्मविश्वास का वातावरण पैदा हो गया। इसलिए 'प्रचार' शब्द को इस अनुच्छेद में रहने देना चाहिए ताकि जो प्रशंसनीय समझौता अल्पसंख्यक समिति ने किया है उस पर कोई आंच न आवे। इतना ही मेरा कहना है।

*__उपाध्यक्षः__ संशोधनों की जो सूची मेरे पास है उसमें 15 संशोधन हैं और उनमें प्रायः सभी पेश किये जा चुके हैं। मैं समझता हूं कि इन संशोधनों के द्वारा सभी विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश पड़ चुका हैं। करीब सात या आठ वक्ता इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं। मेरा ख्याल है कि इस अनुच्छेद पर अब काफी बहस हो चुकी हैं। अब मैं डॉ. अम्बेडकर को उत्तर देने के लिये आमंत्रित करता हूं।

*__माननीय डॉ. बी.आर. अम्बेडकरः__ उपाध्यक्ष महोदय, इस अनुच्छेद के समर्थन में बहुत से वक्ताओं ने जो कुछ कहा है उससे अधिक मुझे नहीं कहना है। यहां केवल इतना ही मुझे कहना है कि संशोधन नं. 609 को मानने पर मैं राजी हूं।

*__श्री एच.वी. कामतः__ क्या मैं पूछ सकता हूं कि डॉ. अम्बेडकर के लिए इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि "मैं इसका विरोध करता हूं, और मुझे कुछ नहीं कहना है"? मैं तो समझता हूं कि वादानुवाद के सिलसिले में और इन

संशोधनों में जो सवाल उठाये गये हैं उनका उत्तर देकर उन्हें सभा के प्रति न्याय करना चाहिए।

***उपाध्यक्ष:** मेरा ख्याल है कि संशोधनों को अस्वीकार करने का कारण बताने के लिए हम डॉ. अम्बेडकर को बाध्य नहीं कर सकते ।

***श्री नज़ीरुद्दीन अहमद** (पश्चिमी बंगाल : मुस्लिम): उपाध्यक्ष महोदय, क्या मैं यह बता सकता हूं कि संशोधन नं. 609 जिसे माननीय डॉ. अम्बेडकर ने स्वीकार किया है वह केवल शाब्दिक संशोधन है?

***उपाध्यक्ष:** यह बात कार्यवाही में दर्ज कर ली जायेगी। अब हम संशोधनों पर एक-एक करके विचार करेंगे।

प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) में 'practise and propagate religion, (धर्म को मानने, प्रचार करने) शब्दों की जगह 'and practise religion privately' (धर्म को निजी तौर पर मानने) शब्द रखे जायें।"

संशोधन अस्वीकृत हुआ।

***उपाध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) में 'practise and propagate religion' (धर्म को...मानने और प्रचार करने) शब्दों के स्थान पर 'and practise' (तथा धर्म को...मानने) शब्द रखे जायें।"

संशोधन अस्वीकृत हुआ।

***उपाध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) 'are equally entitled to freedom of conscience and the right (विश्वास स्वातन्त्र्य का तथा...समान अधिकार होगा) शब्दों की जगह 'shall have the right' (अधिकार होगा) शब्द रखे जायें।"

संशोधन अस्वीकृत हुआ।

***उपाध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) में 'freedom of conscience and' (विश्वास स्वातन्त्र्य तथा) शब्द हटा दिये जायें।"

संशोधन अस्वीकृत हुआ।

***उपाध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के सम्बन्ध में जो व्याख्या दी गई है वह हटा दी जाये और उसकी जगह निम्नलिखित नया खण्ड रखा जाये:

'No person shall have any visible sign or mark or name, and no person shall wear any dress whereby his religion may be recognised.' "

(कोई भी व्यक्ति ऐसा दृश्य चिह्न अथवा निशान अथवा नाम नहीं रखेगा और न कोई व्यक्ति ऐसे वस्त्र ही पहनेगा जिससे कि उसके धर्म को पहचाना जा सके।)

संशोधन नामंजूर हुआ।

***उपाध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) में निम्नलिखित परादिक जोड़ा जाये:

'Provided that no propaganda in favour of any one religion which is calculated to result in change of faith by the individuals affected, shall be allowed in any school or college or other educational institution in any hospital asylum or in any other place or institution where persons of a tender age, or of unsound mind or body are liable to be exposed to undue influence from their teachers, nurses or physicians, keepers or guardians or any other person

set in authority above them, and which is maintained wholly or partially from public revenues, or is in any way aided or protected by the Government of the Union, or of any State or public authority therein.' "

(परन्तु किसी विद्यालय अथवा महाविद्यालय अथवा अन्य शिक्षण संस्था में, किसी हस्पताल अथवा आश्रम, अथवा किसी अन्य स्थान या संस्था में, प्रभावापन्न व्यक्तियों से धर्म परिवर्तन कराने के उद्देश्य से किसी धर्म के पक्ष में कोई प्रचार नहीं किया जायेगा, जहां कि कोमल आयु अथवा निर्बल मस्तिष्क या स्वास्थ्य के लोगों पर उनके अध्यापकों, नर्सों, अथवा चिकित्सकों, रक्षकों अथवा संरक्षकों, अथवा उनके रक्षार्थ रखे हुये किसी व्यक्ति द्वारा अनुचित प्रभाव पड़ना सम्भव हो, और जो सार्वजनिक धन द्वारा पूर्णत: अथवा अंशत: संधृत हों, अथवा जिन्हें संघ अथवा अन्य किसी राज्य की सरकार द्वारा अथवा उनमें स्थित किसी लोक-प्राधिकारी द्वारा किसी प्रकार की सहायता या रक्षा मिलती हो।)

संशोधन अस्वीकृत रहा।

***उपाध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) की व्याख्या में 'profession' शब्द की जगह 'practice' शब्द रखा जाये।"

***माननीय श्री घनश्याम सिंह गुप्त** (मध्यप्रान्त और बरार : जनरल): मैं संशोधन को वापस लेना चाहता हूं, श्रीमान्।

(सभा की अनुमति से संशोधन वापस लिया गया।)

***उपाध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) की व्याख्या के अन्त में 'और तदनुसार अन्य धर्मों के आचरण का अंग माना जायेगा' शब्द जोड़ दिये जायें।"

संशोधन अस्वीकार कर दिया गया।

* **उपाध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के बाद निम्नलिखित नया उपखण्ड जोड़ा जाये:

'(2) The State shall not establish, endow or patronize any particular religion. Nothing shall however prevent the State from imparting spiritual training or instruction to the citizens of the Union.'

(राज्य किसी भी धर्म विशेष को न स्थापित करेगा, न उसके पक्ष में कोई व्यवस्था करेगा और न उसको प्रश्रय देगा। किन्तु किसी भी बात से, संघ के नागरिकों को आध्यात्मिक शिक्षा या उपदेश प्रदान करने पर राज्य के लिए कोई रुकावट न होगी।)

संशोधन अस्वीकार कर दिया गया।

उपाध्यक्ष: प्रस्ताव यह है कि :

"अनुच्छेद 19 में निम्नलिखित अंश खण्ड (1 क) के रूप में रखा जाये :

'(1a) The Indian Republic shall make no law respecting an establishment of religion or prohibiting the free exercise thereof.' "

[(1क) भारतीय गणतंत्र राज्य ऐसी कोई विधि न बनायेगा जो धर्म सम्बन्धी किसी प्रतिष्ठान को प्रतिष्ठा प्रदान करती हो या धर्म को अबाधरूपेण मानने पर रोक लगाती हो।]

संशोधन नामंजूर हुआ।

* **उपाध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) में 'preclude' शब्द की जगह 'prevent' शब्द रखा जाये।"

संशोधन स्वीकार किया गया।

***उपाध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि :

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के उपखण्ड (a) में 'regulating or restricting any economic, financial, political or other

secular activity' (किसी आर्थिक, वैत्तिक, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की ऐहिक क्रियाओं का आनियमन अथवा आयंत्रण करती हो) शब्दों की जगह 'regulating, restricting or prohibiting any...' (...आनियमन अथवा आयंत्रण अथवा अपवर्जन करती हो) शब्द रखे जायें।"

संशोधन अस्वीकार कर दिया गया।

***उपाध्यक्षः** प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के उपखण्ड में or throwing open Hindu' (हिन्दुओं...) शब्दों के बाद 'जैनों-बौद्धों या क्रिश्चियनों' शब्द जोड़े जायें।"

संशोधन अस्वीकृत ही गया।

***उपाध्यक्षः** प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के उपखण्ड (b) में 'any class or section' (किसी वर्ग अथवा विभाग) शब्दों के स्थान पर 'all classes and sections' (सभी वर्ग या विभाग) शब्द रखे जायें।"

डॉ. अम्बेडकर, क्या आपने इसे मंजूर कर लिया है?

***माननीय डॉ. बी.आर. अम्बेडकरः** हां श्रीमान्।

***उपाध्यक्षः** इस संशोधन को डॉ. अम्बेडकर ने स्वीकार कर लिया है।

संशोधन मंजूर हुआ।

***उपाध्यक्षः** प्रस्ताव यह है कि:

*अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के बाद निम्नलिखित नया खण्ड जोड़ा जाये:

'(3) Nothing in clause (2) of this article shall affect the right of any citizen to follow the personal law of the group or the community to which he belongs or professes to belong.' "

[उपाध्यक्ष]

[इस अनुच्छेद के खण्ड (2) की किसी बात से किसी नागरिक को अपने वर्ग या समूह के कुल या जाति धर्म के मानने पर कोई प्रभाव न पड़ेगा।]

संशोधन नामंजूर हो गया।

***उपाध्यक्ष:** संशोधन नं. 596 तथा 609 द्वारा संशोधित अनुच्छेद 19 पर अब मैं मत लूंगा। प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद रूप में, अनुच्छेद 19 को विधान का अंग माना जाये।"

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

(अनुच्छेद 19 को संशोधित रूप में विधान में जोड़ा गया।)

अनुच्छेद 14–(जारी)

***उपाध्यक्ष:** अब हम अनुच्छेद 14 को फिर लेते हैं। जहां तक मुझे याद है—मुझे अफसोस है कि मेरे कागज़ात यहां नहीं हैं—उस दिन दो संशोधन विचाराधीन थे जिन पर विचार करना हमने स्थगित रखा था जिसका कारण सभा को मालूम ही है। एक था संशोधन नं. 512 जिसे काज़ी सैयद करीमुद्दीन साहब ने पेश किया था और दूसरा शायद एक सुझाव था। श्री टी.टी. कृष्णमाचारी, क्या मैं ठीक कह रहा हूं? कृपया आप इस सम्बन्ध में मुझे रोशनी दें। वह आपका सुझाव था या अल्पकालिक सूचना का संशोधन?

***श्री टी.टी. कृष्णमाचारी:** वह अल्पकालिक सूचना का संशोधन था, श्रीमान्।

***उपाध्यक्ष:** अच्छा, वह अल्पकालिक सूचना का संशोधन था जिसे उपस्थित करने की मैंने अनुमति दी थी। इन्हीं दोनों पर मत लेना बाकी रह गया था।

श्री नज़ीरुद्दीन अहमद: उपाध्यक्ष महोदय, संशोधन नं. 512 के सम्बन्ध में मेरा एक औचित्य प्रश्न है।

आपको याद होगा, श्रीमान्, कि संशोधन नं. 512 सभा में पेश किया गया था। इसे डॉ. अम्बेडकर ने स्वीकार कर लिया था और तब इस पर मत लिया गया था। मतदान के समय जो आवाज़ हुई थी वह आपके अन्दाज़े के मुताबिक यही जाहिर करती थी कि संशोधन को सभा मंजूर करती है। फिर इसको लेकर कुछ विवाद खड़ा हो गया और फिर इस पर 'हां' या 'न' के जरिये राय ली गई और फिर आपका अन्दाज़ा यही रहा कि 'हां' वालों का ही बहुमत है। इस सम्बन्ध में जो सब से महत्त्व की बात है वह यह है कि आपने संशोधन को स्वीकृत घोषित कर दिया था।

***उपाध्यक्षः** क्या मैंने इसे स्वीकृत घोषित कर दिया था?

***श्री नज़ीरुद्दीन अहमदः** हां, श्रीमान्, मुझे याद है।

***उपाध्यक्षः** क्या कागज़ात यह ज़ाहिर करते हैं?

***श्री नज़ीरुद्दीन अहमदः** आशुलिपिक ने जो नोट किया हो उसे देखना चाहिए, किन्तु मुझे याद है कि यह स्वीकृत घोषित किया गया था। (*बाधा*)

***उपाध्यक्षः** कृपा कर सभा की मर्यादा कायम रखिये और मि. नज़ीरुद्दीन का विरोध केवल इसलिए न कीजिए कि वह ऐसा दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं जो सभा के किसी वर्ग को नापसन्द है।

(मि. नज़ीरुद्दीन अहमद को सम्बोधित करते हुए) जो बात सभा के सामने है उसी तक आप अपने कथन को सीमित रखें।

***श्री नज़ीरुद्दीन अहमदः** इस संशोधन के सम्बन्ध में बहुमत जैसा चाहे तय करे, मैं उसे कोई बाधा नहीं पहुंचाना चाहता। मैं केवल यही सुझाव देना चाहता हूं कि अगर यह संशोधन स्वीकृत हो चुका है तो उस पर पुनः मत नहीं लिया जा सकता। ऐसा करना नियम विरुद्ध है। किन्तु ऐसा करने का एक उपाय है और वह उपाय भी विधिसंगत है जिसे मैं आपके सामने रखता हूं। अपने नियमों में एक यह भी नियम है कि सभा के 25 प्रतिशत सदस्यों की स्वीकृति से किसी भी स्वीकृत प्रस्ताव पर पुनः विचार किया जा सकता है। मेरा कहना यह है, श्रीमान्, कि अगर मेरा यह कथन ठीक है कि यह संशोधन स्वीकृत घोषित हो चुका है तो इस पर विधिसंगत तरीके से ही पुनः विचार किया जाये।

***उपाध्यक्ष:** कार्यवाही के सम्बन्ध में जो सरकारी रिकॉर्ड (कागज़ात) हैं उसमें यह लिखा हुआ है :

"किन्तु मत लिये जाने के ठीक पहले श्री महावीर त्यागी ने एक सुझाव पेश किया जिस का बाद में प्रधान मंत्री ने समर्थन किया उनका सुझाव यह था कि इस संशोधन विशेष को स्थगित रखा जाये क्योंकि इस बात के सम्बन्ध में यह अस्पष्टता है कि इस प्रावधान का असर क्या होगा। सभा ने उनके सुझाव को मान लिया और तदनुसार इस संशोधन पर तथा समस्त अनुच्छेद पर मत लेना स्थगित रखा गया।"

इससे यही प्रकट होता है कि आपकी आपत्ति बिलकुल निराधार है।

(मि. नज़ीरुद्दीन अहमद बोलने के लिए खड़े हुए।)

कृपया बहस मत कीजिए। मैं सभा को और भी कई बातें स्पष्ट कर देना चाहता हूं। मैं जिस दृष्टिबिन्दु से इसको देखता हूं उसको यहां साफ समझा देना चाहता हूं। जैसा कि मैं कह चुका हूं, सभी मामलों में सभा को आखिरी अधिकार प्राप्त है। कार्य संचालन के लिए सभा ने कतिपय नियम बना रखे हैं। सभा का उद्देश्य यही है कि यहां का काम सुचारु रूप से चले और इसीलिए उसने ये नियम बना रखे हैं। मेरा यह मत है कि सभा के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसका काम सुचारु रूप से चले। नियम सम्बन्धी वितंडावाद उसके लिए उतना महत्त्व नहीं रखता। इन नियमों को सभा ने ही बनाया है और किसी वक्त भी वह इन्हें रद्द कर सकती है। जब इस बात को लेकर यहां अशान्ति उत्पन्न हुई थी, जैसा कि मि. नज़ीरुद्दीन अहमद कहते हैं, तो मैंने सभा के सामने इस मसले को रखा और उसने यह सहमति प्रकट की कि इस पर पुनर्विचार किया जाये। सभा को ऐसा करने का पूरा अधिकार है और अगर सभा का अभी भी वही मत है तो इस पर यहां अभी विचार किया जायेगा।

***मौलाना हसरत मोहानी** (संयुक्तप्रान्त : मुस्लिम): क्या मैं जान सकता हूं, श्रीमान्, कि आया सभा ने पुनर्विचार करके ऐसा करना तय किया है अथवा कांग्रेस पार्टी ने फर्मान निकाल कर यह अदेश दिया है कि इसका विरोध किया जाये? इस पर पुनर्विचार करने के अनुमति देने का निर्णय आप कर रहे हैं या केवल कांग्रेस पार्टी के आदेश पर यह किया जा रहा है? इसका विरोध करने के लिए कांग्रेस पार्टी ने जो फर्मान निकाला है उसकी एक प्रति मेरे पास मौजूद है।

***श्री महावीर त्यागी** (संयुक्तप्रान्त : जनरल): माननीय सदस्य ने कांग्रेस पार्टी के आदेश का जो उल्लेख किया है और जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसके बारे में मुझे आपत्ति है।

***उपाध्यक्ष:** एक कांग्रेसमैन की हैसियत से आपने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया और अब सभापति की हैसियत से मैं यहां अपने कर्त्तव्य का पालन करूंगा।

***मौलाना हसरत मोहानी:** मैंने जो कुछ भी कहा है, श्रीमान्, उस पर मैं दृढ़ हूं।

***उपाध्यक्ष:** मुझे खेद है कि...

***श्री महावीर त्यागी:** क्या कृपा कर आप माननीय सदस्य को यह आदेश देंगे कि वह फर्मान की प्रति को लौटा दें। उसे इस्तेमाल करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है।

***उपाध्यक्ष:** आप हमेशा ही अशान्ति पैदा करते रहते हैं। मैं तो यह कोशिश कर रहा हूं कि सभा में शान्ति आये, रसिकता का भाव उत्पन्न हो और आप बाधा डाल रहे हैं? मैं फिर कभी आपको ऐसा न करने दूंगा।

हां, मैं यह कह रहा था कि मुझे इस बात का सख्त अफसोस है कि मौलाना हसरत मोहानी जैसे अनुभवी लीडर ने यहां ऐसी बात का उल्लेख किया, जिसका सभा से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि मैं कई बार कह चुका हूं, एक खास राजनैतिक दल का आदमी तो मैं ज़रूर हूं किन्तु जब तक मैं सभापति के आसन पर आसीन रहता हूं मेरी दृष्टि में किसी भी दल का अस्तित्व नहीं रह जाता है। इसी भावना से सभा की कार्यवाही का मैं संचालन कर रहा हूं। जिस प्रकार सभा की कार्यवाही का संचालन किया गया है और किया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में इस तरह की आलोचना की जाये इसका मुझे बड़ा ही खेद है।

मैं फिर सभा से यह जानना चाहता हूं कि इस मसले को पुन: पेश करने की वह मुझे अनुमति देती है या नहीं।

***माननीय सदस्यगण:** अवश्य ही, सभा की अनुमति आप को प्राप्त है।

***उपाध्यक्ष:** धन्यवाद! संशोधन नं. 512 पर मैं अब मत लेता हूं।

***माननीय श्री घनश्याम सिंह गुप्त:** उसे पुन: पेश करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यह संशोधन पास हुआ या नहीं इसके बारे में आपने अन्तिम रूप से तो कुछ कहा ही नहीं था। मैं सभा को यह विश्वास दिलाना चाहता हूं कि सभापति ने यह घोषणा कभी नहीं की थी कि संशोधन पास हुआ या नापास हुआ। इसलिए इसको पुन: पेश करने का तो यहां कोई सवाल ही नहीं है। अब यह मसला पूर्णत: सभापति के विवेक पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में जो नियम हैं वह बिलकुल साफ हैं। प्रस्ताव पर मत लिया जाता है और अगर किसी ने निर्णय के सम्बन्ध में कोई आपत्ति की तो मत-विभाजन की घंटी बजती है। घंटी बजने पर सभापति पुन: प्रस्ताव पर मत लेता है और पक्ष तथा विपक्ष के सदस्य अलग-अलग लाबी में चले जाते हैं। मतगणना करने वाला व्यक्ति मतों को गिनता है और उसके बाद यह घोषित किया जाता है कि प्रस्ताव स्वीकृत हुआ या अस्वीकृत। यह तो उस दिन हुआ ही नहीं। असल में आप प्रस्ताव के स्वीकृत या अस्वीकृत होने की घोषणा ही करने जा रहे थे पर आपने इसी बीच में यह कह दिया कि प्रस्ताव स्थगित रखा जाता है। जो कोई भी व्यक्ति यह कहता है कि सभापति ने प्रस्ताव के स्वीकृत या अस्वीकृत होने की आखिरी तौर पर घोषणा कर दी थी वह गलत कहता है।

***उपाध्यक्ष:** इससे तो मेरी गहन अज्ञानता ही प्रकट होती है। मैंने यहां इस सम्बन्ध में एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया जिसको नहीं प्रयुक्त करना चाहिए था। "पुन: पेश करने की" ऐसा मैंने कभी कहा था। खैर मुझे खुशी है कि सब बात ठीक हो गई। मैं यही चाहता हूं कि मुझ में इतनी—क्या शब्द रखूं—योग्यता हो कि मैं भी उसी तरह काम कर सकूं जैसा कि श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने किया है। अब मैं संशोधन नं. 512 पर मत लेता हूं।

प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 14 में, निम्नलिखित अंश खण्ड (4) के रूप में जोड़ा जाये:

'(4) The right of the people to be secure in their persons, houses, papers and effects against unreasonable searches and seizures shall not be violated and no warrants shall issue but upon probable cause supported by oath or affirmation and particularly describing the place to be searched and the persons or things to be seized.' "

(अनुचित तलाशियों तथा अपहरण के विरुद्ध अपने शरीर, गृह, पत्रों और सामान के विषय में सुरक्षित रहने का जो लोगों को अधिकार प्राप्त है उसका उल्लंघन नहीं किया जायेगा, और सिवाय किसी सम्भव कारण के जिसका आधार सौगंध अथवा घोषणा हो, वारंट (अधिपत्र) जारी नहीं किये जायेंगे और जिस स्थान की तलाशी लेनी हो अथवा जिन व्यक्तियों अथवा वस्तुओं को कब्ज़े में करना हो उनका विवरण उसमें विशेष रूप से दिया रहेगा।)"

संशोधन अस्वीकृत हुआ।

***उपाध्यक्ष:** अब हम श्री कृष्णमाचारी के संशोधन पर आते हैं जिसे डॉ. अम्बेडकर ने स्वीकार कर लिया है।

***श्री एच.वी. कामत:** संशोधन को डॉ. अम्बेडकर ने स्वीकार किया या अस्वीकार, इसे क्या हर बार बताना ज़रूरी है?

***उपाध्यक्ष:** हमेशा नहीं, पर कभी-कभी यह बताना ज़रूरी होता है। अब मैं संशोधन पर मत लेता हूं।

प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 14 के खण्ड (2) में 'shall be' शब्दों के बाद 'prosecuted and' शब्द रखा जाय।"

संशोधन स्वीकार किया गया।

***उपाध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

"अनुच्छेद 14 को, संशोधित रूप में, विधान का अंग माना जाये।

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

अनुच्छेद 14 अपने संशोधित रूप में विधान में रखा गया।

अनुच्छेद 15

***उपाध्यक्ष:** सभा के सामने अब यह प्रस्ताव है कि अनुच्छेद 15 को विधान का अंग माना जाये।

अब हम एक-एक करके सभी संशोधनों को लेंगे। नं. 515 को मैं अनियमित घोषित करता हूं। नं. 516, 517, 518 और 532 के संशोधनों का आशय एक

ही है। इनमें 516 तथा 517 को पेश करने की मैं अनुमति दे सकता हूं और ये दोनों ही ब्रजेश्वर प्रसाद के नाम में हैं।

***श्री ब्रजेश्वर प्रसाद** (बिहार : जनरल): मैं इन दोनों को नहीं पेश रहा हूं।

(संशोधन नं. 518, 532, 519 तथा 520 पेश नहीं किये गये।)

***उपाध्यक्ष:** संशोधन नं. 521 तो रुक गया। अब हैं संशोधन नं. 522, 523, 524, 525, 528 और 530। ये सब एक ही आशय के हैं। नं. 523 को मैं पेश करने की अनुमति देता हूं।

***काज़ी सैयद करीमुद्दीन** (मध्यप्रान्त और बरार : मुस्लिम): उपाध्यक्ष महोदय, यदि मसौदा-समिति द्वारा प्रस्तावित संशोधन स्वीकार किया जाता है और अनुच्छेद का रूप यह होगा:

'No person shall be deprived of his life or personal liberty except according to procedure established by law..."

(किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वातंत्र्य, से विधि द्वारा नियत प्रणाली को छोड़ कर अन्य प्रकार वंचित न किया जायेगा...)

तो मेरी राय में इससे विधान सम्बन्धी इतिहास में एक दु:खद अध्याय का ही समावेश होगा। विधान-परिषद् ने मूलाधिकारों के सम्बन्ध में जो परामर्शदात्र समिति नियुक्त की थी उसने यही सुझाव दिया था कि कोई व्यक्ति 'without due process of law) (बिना समुचित विधि-प्रक्रिया के)अपने स्वातंत्र्य से वंचित न किया जायेगा। मैं नहीं समझ पाता हूं कि मसौदा-समिति ने अनुच्छेद 15 में 'personal' (दैहिक) तथा 'according to procedure established by law' (विधि द्वारा नियत प्रणाली) ये शब्द कैसे रख दिये हैं।

***श्री लक्ष्मीकान्त मैत्र:** माननीय सदस्य अपने संशोधन को उपस्थित करेंगे या नहीं, श्रीमान्?

***उपाध्यक्ष:** नियम सम्बंधी पाबन्दी के अनुसार पहले आप अपना संशोधन पेश कर दें।

***काज़ी सैयद करीमुद्दीन:** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान्, कि :

"अनुच्छेद 15 में 'No person shall be deprived of his life or personal liberty except according to procedure

established by law' (किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वातंत्र्य से, विधि द्वारा नियत प्रणाली को छोड़ कर अन्य प्रकार वंचित न किया जायेगा) शब्दों की जगह ये शब्द कि 'No person shall be deprived of his life or liberty without due process of law' (कोई व्यक्ति बिना समुचित विधि प्रक्रिया के अपने प्राण या स्वातंत्र्य से न वंचित जायेगा) रखे जायें।"

अगर "विधि द्वारा नियम प्रणाली को छोड़कर अन्य प्रकार" ये शब्द यहां रखे जाते हैं तो इससे देश के न्यायालयों के प्रति बड़ा अन्याय होगा क्योंकि उस हालत में यह होगा कि विधि द्वारा नियत प्रणाली का पालन न्यायालय जब कर लेगा और उसे इस बात का इत्मीनान हो जायेगा, विधि द्वारा नियम प्रणाली का पालन हो चुका है तो उसके बाद न्यायाधीश किसी भी कानून के सम्बंध में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, भले ही वह कानून अनियमित, अन्यायपूर्ण या पक्षपातरहित हो। खण्ड का जो वर्तमान रूप है उससे हमारे देश को, जो राजनैतिक दलबन्दियों का एक अखाड़ा है और जहां लोग अनुशासन का नाम भी नहीं जानते, बहुत बड़ा नुकसान पहुंच सकता है। अपरिहार्य अधिकारों के सम्बंध में व्यक्ति को कुछ ऐसी गारंटी मिलनी चाहिए जिससे अधिकारारूढ़ होने वाले राजनैतिक दलों को विधान में रखे गये मूलाधिकारों के न्यूनन का अथवा उन पर आघात करने का अधिकार न रह जाये।

अमेरिका के विधान सम्बंधी कानून में एक ऐसा उदाहरण मौजूद है। वह चेम्बर्स बनाम फ्लोरिडा नामक मुकद्दमे में एक कानून के सम्बंध में किसी कानूनी अदालत में यह सवाल खड़ा हुआ था कि वह अनियमित एवं अन्यायपूर्ण है। इसलिए मेरा कहना है कि अगर "according to procedure established by law" ये शब्द यहां रखे जाते हैं तो इससे न्यायालयों को यह अधिकार न रह जायेगा कि वे किसी विधि की न्याय शून्यता के सम्बंध में या किसी विधि के किसी असंगत प्रावधान के सम्बंध में कोई निर्णय दे सके। विधि द्वारा नियत प्रणाली के पालित होते ही सब बात समाप्त हो जायेगी और न्यायाधीशों के हाथ में कुछ भी न रह जायेगा। इसलिए मेरा पहला कहना तो यह है कि "except according to procedure established by law" शब्द हटा दिये जायें और उनकी जगह "without due process of law" शब्द रखे जायें।

वस्तुत: मैंने दो संशोधन दिये थे, श्रीमान्। एक तो 'liberty' के पहले जो 'personal' शब्द रखा गया है उसके बारे में और दूसरा 'except according

[काजी सैयद करीमुद्दीन]

to procedure established by law' की जगह 'without due process of law" शब्द रखने के बारे में। किन्तु न जाने कैसे इन दोनों संशोधनों को एक कर दिया गया और मुझे एक ही संशोधन पेश करना होगा। "personal liberty" शब्दों के सम्बंध में मेरा जो संशोधन है उसे अगर मसौदा-समिति नहीं स्वीकार करती है तो मत करे, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है। किन्तु मेरे संशोधन का जो दूसरा अंश है वह तो ज़रूर ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

(संशोधन नं. 524 नहीं पेश किया गया।)

***उपाध्यक्ष:** संशोधन नं. 525 मि. नज़ीरुद्दीन अहमद का है। क्या इसे पेश करने पर आप ज़ोर देते हैं?

***श्री नज़ीरुद्दीन अहमद:** छपाई की एक भूल है जिसे मैं बता देना चाहता हूं।

***उपाध्यक्ष:** ठीक है। अब हम नं. 528 पर आते हैं जो श्री उपेन्द्रनाथ बर्मन, श्री दामोदर स्वरूप सेठ तथा श्री के. वी. कृष्णमूर्त्तिराव के नाम में है।

***काज़ी सैयद करीमुद्दीन:** मेरा एक औचित्य प्रश्न है, श्रीमान् । मैंने अपनी वक्तृता में बताया है कि मैंने दो संशोधन रखे थे। एक तो 'personal' शब्द के सम्बंध में और दूसरा 'due process of law' के सम्बंध में। किन्तु आफिस की गलती से दोनों एक कर दिये गये। इसलिए मुझे केवल अपने संशोधन का दूसरा ही अंश पेश करना पड़ा। किन्तु संशोधनों की जो सूची हमें दी गई है उसमें नं. 528 और 523 को साथ रखा गया है। 523 मेरा संशोधन है जिसे मैं पेश कर चुका हूं। अत: सभा की कार्य-पद्धति के अनुसार 528 अब पेश नहीं किया जा सकता उस पर केवल मत लिया जा सकता है।

***उपाध्यक्ष:** अच्छी बात है, 528 को पेश करने की ज़रूरत नहीं है।

***श्री एस.वी कृष्णमूर्त्तिराव** (मैसूर): किन्तु इन दोनों में एक अन्तर है, श्रीमान्। 528 में 'personal' शब्द का कोई उल्लेख नहीं है; 523 में इस शब्द को हटाने की बात कही गई है।

***उपाध्यक्ष:** किन्तु आशय दोनों का एक ही है और मैं अपना निर्णय दे चुका हूं। 528 पर केवल मत लिया जायेगा।

अब आता है नं. 530 जो मि. ज़ैड. एच. लारी के नाम से है। क्या आप चाहते हैं कि इस पर राय ली जाये?

***श्री ज़ैड. एच. लारी** (संयुक्तप्रान्त : मुस्लिम): हां, श्रीमान्।

***उपाध्यक्ष:** हमारी सूची में अब आता है नं. 524 का दूसरा भाग, नं. 526 और नं. 527 । ये प्राय: एक ही तरह के हैं। नं. 526 को पेश किया जा सकता है।

***श्री महबूब अली बेग साहब** (मद्रास : मुस्लिम): मेरा प्रस्ताव है कि:

"अनुच्छेद 15 में 'except according to procedure established by law' शब्दों की जगह 'save in accordane with law' शब्द रखे जायें।"

मसौदा-समिति ने जो नोट दिया है उसमें बताया गया है कि अनुच्छेद 15 में, जिसे सभा ने 1947 में अगस्त, अप्रैल या मई के महीने में स्वीकार किया था, मसौदा-समिति ने दो परिवर्तन किये हैं। पहला परिवर्तन तो यह हुआ है कि 'liberty' (स्वातंत्र्य) शब्द के पहले 'personal' (दैहिक) शब्द रख दिया गया है। इसका कारण यह बताया गया है कि अगर यह 'personal' शब्द न रखा जायेगा तो इस खण्ड का क्षेत्र इतना व्यापक हो जायगा कि इसमें वह सभी स्वतंत्रताएं भी आ जायेंगी जिनका अनुच्छेद 13 में उल्लेख है।

'personal' शब्द बढ़ाने के लिए तो यह कारण बताया गया है और "without due process of law" शब्दों की जगह जो "except according to procedure established by law" शब्द रखे गये हैं; इसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह पदसंहति अधिक स्पष्ट एवं निश्चित है और यह भी कहा गया है कि सन् 1946 के जापानी विधान के अनुच्छेद 31 में ऐसा ही प्रावधान रखा गया है। मैं दूसरे परिवर्तन के सम्बन्ध में ही बोलूंगा।

इसमें शक नहीं कि जापान के विधान का अनुच्छेद 31 ऐसा ही है पर उसमें दिये गये अन्य कतिपय अनुच्छेदों को भी (अनुच्छेद 32-34 और 35) अगर आप अपने विधान में स्थान देते तो नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता की पूर्णत: रक्षा हो जाती। किन्तु इस मसौदे में उन प्रावधानों को तो अपनी सुविधार्थ आपने रखा नहीं।

[श्री महबूब अली बेग साहब]

जापानी विधान के अनुच्छेद 32 में यह कहा गया है कि हर व्यक्ति को न्यायालय से अपील करने का अधिकार है और इस अधिकार से कोई भी व्यक्ति वंचित न किया जायेगा। यहां दी हुई पदसंहति के अनुसार तो यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि विधान-मण्डल इस आशय का कानून बना सकता है कि अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए किसी को भी न्यायालय से अपील करने का अधिकार नहीं है। किन्तु जापानी विधान के अनुच्छेद 32 में यह साफ कहा गया है कि "no person shall be denied the right of access to the Court." (हर व्यक्ति को न्यायालय से अपील करने का अधिकार है और किसी को इस अधिकार से वंचित न किया जायेगा)। क्या हमारे विधान में भी कोई इस तरह का खण्ड है? मुख्य बात तो यही है। हमारे विधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है।

जापानी विधान के अनुच्छेद 34 में कहा गया है कि : "गिरफ्तार करते ही उसके विरुद्ध लगाये गये आरोपों की तत्काल उसे बिना सूचना दिये अथवा तुरन्त वकील नियुक्त करने की सुविधा दिये बिना किसी व्यक्ति को गिरफ्तार न किया जायेगा और न हिरासत में रखा जायेगा तथा न बिना पर्याप्त कारण के ही किसी को हिरासत में रखा जायेगा और उसके द्वारा ऐसे कारण की मांग करने पर तुरंत खुली अदालत में उसकी तथा उसके वकील की उपस्थिति में कारण को दिखाना होगा"। अपने मसौदे में ऐसा सुस्पष्ट अधिकार कहीं नहीं दिया गया है।

जापानी विधान के अनुच्छेद 35 में यह अधिकार दिया गया है कि किसी भी नागरिक के घर की तलाशी न ली जायेगी और न उसके घर में प्रवेश ही किया जायेगा जब तक कि सम्भावित कारण के आधार पर इसके लिए वारंट न निकला हो, इत्यादि-इत्यादि। प्रावधान को सुस्पष्ट बनाने के लिए तथा निश्चयात्मक रूप देने के लिए अगर आपने जापानी विधान के अनुच्छेद 31 को अपने मसौदे में स्थान दिया है तो उचित यही था कि आप जापानी विधान के अन्य उन प्रासंगिक अनुच्छेदों को भी रखते जो सच्चे नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा के निमित्त ही बनाये गये हैं। मसौदा-समिति से उसके प्रधान की मार्फत मैं पूछना चाहता हूं कि क्या अपने विधान से यह स्पष्ट है कि गिरफ्तार या हिरासत में रखे गये व्यक्ति के अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए न्यायालय में जाने का

अधिकार है? यह कहा जा सकता है कि "except according to procedure established by law" (विधि द्वारा नियम प्रणाली को छोड़ कर अन्य प्रकार) इस पदसंहति के अन्दर यह बात आ जाती है। किन्तु उस पदसंहति का मतलब होता है विधान-मण्डल की विधि द्वारा नियत कार्यप्रणाली से और विधान-मण्डल को ऐसी विधि बनाने का अधिकार रहेगा कि राजनैतिक या अन्य कारणों से हिरासत में रखे गये नागरिकों के मामले न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र के बाहर हों। भारत के उच्च न्यायालयों के निर्णयों से हम परिचित हैं। विशेषत: मद्रास हाईकोर्ट तथा अन्य हाईकोर्टों का वह निर्णय हमें मालूम है जिसमें उन्होंने कहा है कि विधान-मण्डल ऐसा कानून बना सकता है कि कतिपय नागरिकों के सम्बन्ध में, जिनके निस्बत सरकार यह समझती हो कि वह अपराध करता है या करने वाला है या यह कि उसके अपराध करने की सम्भावना है, वह जो भी कार्रवाई करे उसके बारे में न्यायालय हस्तक्षेप नहीं करेगा। न्यायालय को यह अधिकार नहीं होगा कि वह उन कारणों के गुण-दोष की समीक्षा करे जिनके आधार पर किसी व्यक्ति को हिरासत में रखा गया है। न्यायालय को केवल इतना ही देखने का अधिकार है कि सरकार ने जो कार्रवाई की है वह नेकनियती से की गई है या बदनियती से और यह साबित करने का भार कि उसके गिरफ्तार करने या हिरासत में रखने का वारंट जारी करके सरकार ने बदनियती से काम लिया है, अभियुक्त पर रहता है। इसलिए "except according to procedure established by law" शब्दों का यही मतलब होगा और मेरे मत से यही है कि भावी विधान-मण्डल ऐसा कानून बना सके, जिससे नागरिकों का यह अधिकार जाता रहे कि अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए वह मामले की सुनवाई न्यायालय में करवा सकते हैं। इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि परिस्थिति विशेष में किसी व्यक्ति को अपराध करने से रोकने के लिए सतर्कतामूलक कार्रवाई के तौर पर उसे गिरफ्तार करना सरकार के लिए ज़रूरी ही नहीं होगा। किन्तु मैं यह ज़रूरी कहता हूं कि नागरिकों को न्यायालय में जाकर अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करने का तथा जिन कारणों के आधार पर उसे हिरासत में रखा गया है उनको असत्य सिद्ध करने का मौका मिलना ही चाहिए। यह तो एक मूलाधिकार—प्रारम्भिक अधिकार है—जो अधिशासी वर्ग के मुकाबले में नागरिकों को मिलना ही चाहिए। हो सकता है कि अधिशासी वर्ग को विधान-मण्डल ने, जिसमें दल विशेष का प्राधान्य हो, बहुत से अधिकार दे रखे हों। हो सकता

[श्री महबूब अली बेग साहब]

है कि दलबंदी के आधार पर बना हुआ विधान-मण्डल ऐसा कानून पास कर दे कि परिस्थिति विशेष में अधिशासी वर्ग को नागरिकों के वैयक्तिक स्वातंत्र्य को छीन लेने का हक है और वैसी सूरत में नागरिक को यह अधिकार नहीं रह जायेगा कि अदालत में जाकर वह अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करे। अगर मसौदा बनाने वाले सज्जन यह कह सकें कि "except according to procedure established by law" इन शब्दों से किसी नागरिक का यह अधिकार नहीं जाता रहता है कि अदालत जाकर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का उसे मौका दिया जायेगा और उसे ऐसा करने से वंचित नहीं किया जायेगा तब तो बात दूसरी है। किन्तु हमें यह मालूम होना चाहिए कि इंग्लैंड तथा अन्य देशों के विधानों में "without due process of law" (बिना समुचित विधि प्रक्रिया के) ये शब्द यही व्यक्त करने के लिए रखे गये हैं कि जब भी किसी नागरिक के विरुद्ध ऐसी कार्रवाई की जाये जिससे वह अपने वैयक्तिक स्वातंत्र्य से वंचित होता हो तो उसे न्यायालय में जाकर अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करने का मौका अधिकारत: मिलेगा ही। यह अधिकार देने में सभी जगह "without due process of law" अथवा "save in accordance with law" यही पदसंहति रखी गई है। इंग्लैंड का कानून इस प्रारम्भिक तथा मूलाधिकार से किसी नागरिक को वंचित नहीं करता। वहां जो कानून बनाये जाते हैं यह सब इस मूल सिद्धान्त के अधीन होते हैं कि कोई भी व्यक्ति तब तक न अपराधी घोषित किया जायेगा और न अपने स्वातंत्र्य से वंचित किया जायेगा जब तक कि उसे अदालत में अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करने का मौका न दिया गया हो। इसलिए, जैसा कि मैंने निवेदन किया है, अगर कानून किसी व्यक्ति को दण्ड देता है तो ऐसा करने से पहले उसकी सुनवाई भी कानून को करनी ही चाहिए।

इस पदसंहति के पक्ष में एकमात्र कारण जो नोट में दिखाया गया है वह यह है; यह अधिक निश्चयात्मक है और जापानी विधान में भी इसे स्थान दिया गया है। जैसा कि मैं कह चुका हूं, नागरिकों को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का जो हक है उससे हमें उन्हें वंचित न करना चाहिए। अगर जापान के विधान का यह प्रावधान आप रखते हैं तो उसके तद्विषयक अन्य प्रावधानों को भी रखिये ताकि नागरिकों के इस मूलाधिकार पर कोई आंच न आ सके। अगर आप जापानी विधान के तत्सम्बन्धी अन्य सभी प्रावधान यहां रख दें तो मुझे सन्तोष हो जायेगा

क्योंकि अन्य प्रावधानों में साफ तौर पर यह कहा हुआ है कि किसी भी व्यक्ति को उसके स्वातंत्र्य से तब तक न वंचित किया जायेगा जब तक कि अदालत में अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का उसे मौका न दिया जाये। इसलिए "except according to procedure established by law" इन शब्दों पर मैं आपत्ति करता हूं। अगर अन्य किसी रूप में आप इस प्रावधान को रखें जिससे यह निश्चयात्मक भी रहे और नागरिकों का यह अधिकार भी सुनिश्चित रहता हो कि अपराधी घोषित किये जाने के पहले उनको अदालत में अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का अवसर ज़रूर दिया जायेगा, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। प्रस्तुत संशोधन को प्रस्तावित करने का यही कारण है।

***उपाध्यक्षः** संशोधन नं. 529 और 531 दोनों की अनुमति नहीं दी जाती है क्योंकि ये केवल शाब्दिक हैं।

(संशोधन नं. 533 पेश नहीं किया गया।)

अब हम अनुच्छेद 15 पर वादानुवाद प्रारम्भ कर सकते हैं।

***पं. ठाकुरदास भार्गव** (पूर्वी पंजाब : जनरल): मैं अपने संशोधन नं. 525 में, एक दूसरे संशोधन के ज़रिये जो सूची 1 में नवें नम्बर का है, कुछ सुधार करना चाहता था। यह संशोधन तथा नं. 528 का संशोधन—दोनों—एक ही आशय के हैं। काज़ी करीमुद्दीन ने जो संशोधन पेश किया है उसमें और इन दोनों में इतना ही अन्तर है कि करीमुद्दीन साहब के संशोधन में 'liberty' के पहले 'personal' शब्द नहीं है। मि. काज़ी करीमुद्दीन के संशोधन के मैं विरुद्ध हूं। हां, इस अनुच्छेद में अगर इतना संशोधन कर दिया जाये कि "except according to procedure established by law" शब्दों की जगह "without due process of law" शब्द रख दिये जायें तो मैं इसका समर्थन करूंगा।

इस सम्बंध में पहला सवाल जो उठता है यह है कि 'law' शब्द का अर्थ क्या है?

आम तौर पर इसका जो अर्थ लिया जाता है और खूब मान्य हो चुका है तथा विधि-विशारद श्री आस्टिन ने इसका जो अर्थ दिया है उसके मुताबिक 'law' शब्द

[पं. ठाकुरदास भार्गव]

का अर्थ है वह कानून जिसे विधान-मण्डलों ने बनाया हो, किन्तु मेरा कहना है कि जहां श्री डिके ने 'law of the land' का प्रयोग किया है वहां उन्होंने 'law' शब्द को दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।

इसी प्रकार जापान के विधान में या अन्य किसी देश के विधान में जहां यह शब्द प्रयुक्त हुआ है वहां व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। वहां 'law' शब्द से न्याय, सत्य आदि विश्वव्यापक सिद्धान्तों को लिया गया है।

प्रस्तुत अनुच्छेद का जो वर्तमान रूप है उसके अनुसार "procedure' (कार्य प्रणाली) पर ही सारा ज़ोर दिया गया है किन्तु 'law' शब्द में दोनों ही बातें—ज़ाब्ता सम्बन्धी कानून तथा मूल कानून—आती हैं। मैंने 'law' शब्द को यहां व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। संशोधन द्वारा अनुच्छेद में "without due process of law" (बिना समुचित विधिप्रक्रिया के) ये शब्द लाने की कोशिश की गई है और यद्यपि इनका अर्थ कहीं नहीं बताया गया है किन्तु इनका अर्थ क्या है और इनका क्या असर पड़ेगा इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। "without due process of law" ये शब्द रखने से हमारा मतलब यह है कि न्यायालय को यह अधिकार होना चाहिए कि वह दोनों ही बातों को देखे। वह यह भी देखे कि कानून के ज़ाब्ते के मुताबिक काम हुआ है या नहीं और यह भी देखे कि मूल कानून ठीक है या नहीं। प्रस्तावित संशोधन के अनुसार यह होगा कि संसद् अगर कोई कानून बनाती है तो न्यायालय को इस बात की समीक्षा करने का, उस सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकार होगा कि आया वह कानून जिसे संसद् ने पास किया ठीक है या नहीं, अच्छा है या नहीं, और वस्तुतः उससे नागरिकों के स्वातंत्र्य की रक्षा होती है या नहीं। सर्वोच्च न्यायालय अगर इस नतीजे पर पहुंचता है कि कानून अवैधानिक है, अनुचित एवं न्यायशून्य है तो उस हालत में न्यायालय कानून को अवैधानिक ठहरा देगा और फिर वह अमल में नहीं लाया जा सकेगा।

ज़ाब्ते के सम्बन्ध में भी न्यायालय को ऐसा ही अधिकार होगा। अगर किसी विधान-मण्डल के दिमाग में यही आ जाये कि देश को ज़ाब्ता सम्बन्धी अच्छे कानून से भी वंचित कर दिया जाये तो न्यायालय को वहां भी यही अधिकार होगा कि वह उसकी समीक्षा करके निर्णय दे कि जो ज़ाब्ता रखा गया वह ठीक है या

नहीं। 'law' शब्द जिस माने में संशोधन में रखा गया है और जिसमें कि आम तौर पर रखा जाता है उसके मुताबिक न्यायालय को ऐसा अधिकार है। अनुच्छेद 8 के प्रयोजनार्थ ही 'law' शब्द की परिभाषा दी गई है। अन्यथा इसकी परिभाषा ही नहीं दी गई है। इसलिए मैं कहूंगा कि अनुच्छेद में रखे गये शब्द "procedure established by law" अगर यहां रहने दिये जाते हैं तो हमें 'law' शब्द का मतलब भी बता देना होगा। अन्यथा इन शब्दों के सम्बन्ध में अस्पष्टता बनी रहेगी और परिणाम यह होगा कि इनके गलत माने लगा दिये जायेंगे। इसलिए जब तक कि "due process of law" इन शब्दों का अर्थ हम नहीं समझ लेते, प्रस्तावित संशोधन के प्रति हम न्याय नहीं कर सकते। इनका अर्थ न समझ लेना संशोधन के प्रति अन्याय करना है। इसलिए मैं यह बताना चाहता हूं कि "due process of law" का अर्थ यद्यपि कहीं नहीं बताया गया है फिर भी इससे उसी अर्थ का बोध होता है जिसमें कि और देशों के कानून के मुकाबिले में अमेरिकन कानून में यह प्रयुक्त हुआ है। अब, इस संशोधन का असर क्या होगा? उदाहरण रख कर इस बात को समझाने के लिए सभा के सामने मैं 1908 के एक्ट 14 का हवाला दूंगा जो काला कानून के नाम से मशहूर है और जिसके अधीन अगर लाखों नहीं तो हजारों कांग्रेसजन जेलों में ठूंस दिये गये थे। इस एक्ट के मुताबिक सरकार को यह अधिकार था कि केवल इस आधार पर कि उसने इस आशय की अधिसूचना निकाल रखी है, वह किसी भी संगठन को गैर-कानूनी घोषित कर सकती है। जब यह एक्ट पास हुआ तो समूचे भारतवर्ष में इसकी निन्दा की गई, किन्तु तत्कालीन सरकार ने इसका इतना प्रबल विरोध होने पर भी इसे कानून का रूप दिया। जब असहयोग आन्दोलन चला तो इसी कानून के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का अस्त्र उठाया गया था जिस अस्त्र के सहारे कि कांग्रेस ने अपनी लड़ाई लड़ी। न्यायालय यह निर्णय नहीं दे सके कि सरकार द्वारा निकाली हुई अधिसूचना गलत थी। न्यायालयों को यह अधिकार नहीं था कि वे यह निर्णय दे सकें कि संगठन बनाना या संघ बनाना वैध है, यद्यपि उनके उद्देश्य वैध थे। कांग्रेस के लक्ष्य तो शान्तिपूर्ण ही थे। वह शान्तिपूर्ण एवं वैध उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना चाहती थी। किन्तु चूंकि सरकार ने अधिसूचना निकाल रखी थी न्यायालय इस सम्बन्ध में बिलकुल असहाय हो गये थे। इस कानून से यह प्रकट है कि "due process" का अधिकार कितना ज़रूरी है।

[पं. ठाकुरदास भार्गव]

इसी तरह मैं एक और उदाहरण दूंगा। वह है भारत-सुरक्षा कानून की धारा 26 (Section 26 of the Defence of India Act)। हम जानते हैं कि फेडरल-कोर्ट ने इस धारा को गैर-कानूनी ठहराया था और इसलिए सरकार को एक नया आर्डिनेंस निकालना पड़ा था। अत: जब तक कि आप न्यायालय को इस सम्बन्ध में अधिकार नहीं देते और अनुच्छेद 15 को न्याय्य नहीं बनाते तब तक हक हमें इस बात की गारण्टी नहीं हो सकती है कि हम उस स्वातंत्र्य का उपभोग कर सकेंगे जिसे विधान हमें देना चाहता है।

सभा ने अनुच्छेद 13 में 'reasonable' (समुचित) शब्द को स्वीकार कर लिया है। कम से कम 70 प्रतिशत कानून जिसमें वैयक्तिक स्वातंत्र्य का प्रश्न आ सकता है, अब न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र के अन्दर आ जाते हैं और न्यायालयों को इनके सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकार है कि आया वे समुचित हैं या नहीं। अब एक दूसरा सिद्धान्त अपनाने पर सभा को रोका जा रहा है। वैयक्तिक सम्पत्ति और ज़ीवन के सम्बंध में तो इस प्रश्न का महत्त्व और भी अधिक है। जहां तक कि प्राण एवं वैयक्तिक स्वातंत्र्य का सम्बन्ध है, ये दोनों ही बातें उन विषयों के अन्तर्गत होनी चाहिएं जो न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र के अधीन हैं।

इसलिए यह परमावश्यक है कि सभा इस संशोधन को स्वीकार करे। इसके दो रास्ते हैं जैसा कि पूर्व वक्ता ने सुझाया है। या तो जैसा कि जापानी विधान में है, आप अन्य बातों को भी विधान में स्थान दें या सर्वश्री लारी और करीमुद्दीन साहब के सभी संशोधनों को मंजूर कीजिए। इनमें से एक तो शुरू में आपने स्वीकृत घोषित करने की कृपा कर दी थी पर बाद में आपने उसे अस्वीकृत घोषित कर दिया। वे विधान में ऐसे सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करना चाहते हैं जिनका उल्लंघन भावी विधान-मण्डल कर न सकेगा। अगर "due process" वाला एक संशोधन स्वीकार हो जाता है तो मूलाधिकार को लेकर अन्य जो भी संशोधन रखे गये हैं वह स्वत: स्वीकृत हो जायेंगे। एक दूसरी बात जो इस एक संशोधन के पास होने से होगी वह यह है कि इससे विधान में जनता की मनोवृत्ति को भावना का आप स्थान देंगे। प्राचीन काल में सात या आठ ऋषि हुआ करते थे जो बड़े ही साधु और विज्ञ होते थे और वास्तविक अधिकार उन्हीं के हाथ में होते थे। उन्हीं के पास शास्त्रज्ञ मंत्री एवं राजा सलाह के लिए जाते थे। वही ऋषि समूची

शासन-व्यवस्था का संचालन करते थे। हमारा यह प्राचीन आदर्श फिर पूर्णतः चालू हो जायेगा अगर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश-मण्डल को, जो कानून और ज़ाब्ते के पूरे पंडित होंगे और जिनमें बुद्धिमत्ता कूट-कूट कर भरी होगी, नागरिकों के अधिकार के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार हो।

***उपाध्यक्षः** माननीय सदस्य का समय समाप्त हो चुका है।

***पं. ठाकुरदास भार्गवः** मुझे अभी और कई बातें कहनी हैं, श्रीमान्। मैं जानता हूं कि इस संशोधन के विरुद्ध यह तर्क दिया जायेगा कि "due process of law" शब्द स्पष्ट नहीं हैं तथा निश्चयात्मक नहीं हैं। किन्तु क्या मैं पूछ सकता हूं कि विधान में जो "morality" (नैतिकता) शब्द रखा गया है उसका ठीक-ठीक मतलब क्या है?

***उपाध्यक्षः** मैं माननीय सदस्य से अनुरोध करूंगा कि वह मेरी आज्ञा पर ध्यान दें। मैं दो बार यह सूचित कर चुका हूं कि उनका समय समाप्त हो गया है। आधा दर्जन सदस्यों ने—और योग्य सदस्यों ने—इस पर बोलने की मुझसे अनुमति मांगी है। मुझे विश्वास है कि माननीय वक्ता यह कभी नहीं चाहते हैं कि जो समय इनको दे सकता हूं उस में मैं कमी कर दूं।

***पं. ठाकुरदास भार्गवः** मैं हर्गिज़ यह नहीं चाहता कि अन्य वक्ता का समय कम किया जाये।

***उपाध्यक्षः** तो मैं आपको 2 मिनट का समय और देता हूं।

***पं. ठाकुरदास भार्गवः** धन्यवाद, श्रीमान्।

***श्री उपेन्द्र नाथ बर्मन** (पश्चिमी बंगाल : जनरल): क्या इस समय मुझे चन्द शब्द कहने की इजाज़त है, श्रीमान्?

***उपाध्यक्षः** मुझे खेद है; मैं माननीय सदस्य की बात नहीं रख सकता।

***पं. ठाकुरदास भार्गवः** जैसा कि मैं कह रहा था, श्रीमान्, विधान में कितने ऐसे अन्य शब्द हैं जिनका कोई निश्चित अर्थ नहीं है। 'decency' तथा 'morality' (शालीनता और नैतिकता) इन शब्दों के कोई निश्चित अर्थ नहीं हैं।

[पं. ठाकुरदास भार्गव]

और फिर यह कहा जाता है, श्रीमान्, कि अगर इस संशोधन को स्वीकार किया गया तो इससे जो अनिश्चितता उत्पन्न होगी उसके कारण शासन में कमज़ोरी आने की सम्भावना है। पर इससे हमारी स्वतंत्रताएं तो निश्चित हो जायेंगी, भले ही न्यायालय इस कानून विशेष पर विचार करके इसके रूप को अनिश्चित बता दे। इससे शासन में कमज़ोरी नहीं आयेगी। यह मैं मान सकता हूं कि सम्भवत: इससे शासन अपनी मनमानी नहीं कर सकता। पर इससे क्या? हम तो ऐसी सरकार चाहते ही हैं जो हमारे नागरिकों की स्वतंत्रताओं का सम्यक् ध्यान रखे। वास्तविक बात तो यह है कि अगर यह संशोधन पास हो जाता है तो यही हमारी स्वतंत्रताओं की आधारशिला होगी। यह तथा अनुच्छेद 13 जिसमें 'reasonable' शब्द है—यही दोनों—हमारा मैग्ना कार्टा यानी महा स्वतंत्रता पत्र होंगे। इससे विधान-मण्डल की निरंकुशता पर न्यायाधीश-वर्ग की जीत होगी। हमें अपनी स्वतंत्रताओं की रक्षार्थ वस्तुत: दो गढ़ या आश्रयस्थल अपेक्षित हैं। उनमें एक तो विधान-मण्डल है और दूसरा न्यायाधीश-वर्ग। किन्तु अगर कदाचित् विधान-मण्डल भी दलबंदी के बहाव में बह जाये या पार्टी से डर जाये तो विधान-मण्डल तथा अधिशासी वर्ग की ज्यादतियों से न्यायाधीश-वर्ग हमारी रक्षा करेगा।

गणतंत्र में, नागरिकों को अन्त में न्यायालय में ही शरण मिलती है जहां वह अपने अधिकारों और स्वतंत्रताओं को मान्यता दिलवा सकते हैं। मैं चाहता हूं कि न्यायाधीश-वर्ग को उसका समुचित और समादृत स्थान प्राप्त हो, वह विक्रमादित्य के न्यायसिंहासन पर समासीन हो ताकि उसकी छत्रछाया में नागरिकों के अधिकार तथा स्वातंत्र्य पूर्णत: सुरक्षित रहें।

मैं सभा से अनुरोध करता हूं कि वह मेरे संशोधन को स्वीकार करे।

***श्री चिम्मनलाल चक्कूभाई शाह** [संयुक्त राज्य काठियावाड़ (सौराष्ट्र)] उपाध्यक्ष महोदय, अनुच्छेद 15 में जो अधिकार दिया जा रहा है वह इस अध्याय में रखे गये मूलाधिकारों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस अधिकार का सम्बन्ध है हमारे प्राण तथा दैहिक स्वातंत्र्य से और इसके अभाव में अन्य सभी अधिकार व्यर्थ हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इस अधिकार की व्याख्या करते

हुए हम इस बात को स्पष्ट कर दें कि इसके द्वारा हम क्या अधिकार देना चाहते हैं। इस अधिकार के प्रयोग पर हमें ऐसे प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए जिनसे कि यह अधिकार ही व्यर्थ और प्रभाव-शून्य हो जाये। इसलिए मैं उस संशोधन का समर्थन करता हूं जिसमें कहा गया है कि– "except in accordance with the procedure established by law" (विधि द्वारा नियत कार्यप्रणाली को छोड़ कर अन्य प्रकार) शब्दों की जगह "without due process of law" (बिना समुचित विधि प्रणाली के) शब्द रखे जायें। "due process of law" ये शब्द अमेरिकन विधान से लिये गये हैं और इनको एक खास अर्थ मिल गया है। वह अर्थ यह है कि कानून की समीक्षा करने में न्यायालय को सिर्फ इसी बात के सम्बन्ध में विचार करने का अधिकार नहीं होगा कि ज़ाब्ता के मुताबिक कार्रवाई की गई है या नहीं—यानी वारंट कानून के मुताबिक जारी किया गया है या नहीं, दस्तखत और मुहर उस पर हैं कि नहीं बल्कि उसे इस बात का भी विचार करने का अधिकार होगा कि कानून के जो मूल प्रावधान हैं वह ठीक हों, समुचित हों, वह अनुचित, कठोर और स्वेच्छाचारपूर्ण न हों। इसका मतलब यह हुआ कि न्यायाधीश-वर्ग को अधिकार होना चाहिए कि कानून के सम्बन्ध में वह विचार कर सके। अमेरिका में न्यायाधीश-वर्ग को जिस प्रकार का अधिकार दिया गया है उससे अवश्य ही उनका दृष्टिकोण कुछ प्राचीन-पंथी हो गया है और कानून की स्थिरता जाती रही है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा जो अनुच्छेद है वह दो बातों में अमेरिकन विधान के अनुच्छेद से भिन्न है। अमेरिकन विधान में 'life, liberty and property' (जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति) ये शब्द रखे गये हैं किन्तु अपने विधान में 'सम्पत्ति' शब्द नहीं रखा गया है क्योंकि इस शब्द के प्रयोग के कारण अमेरिका में बहुत कानूनी झगड़े हुए और बड़ी अनिश्चितता पैदा हुई। किन्तु 'due process of law' इन शब्दों के भाष्य की आवश्यकता जहां "जीवन और सम्पत्ति" के सम्बन्ध में पड़ी है, वहां न कोई अनिश्चितता ही रही है और न कोई कानूनी विवाद ही खड़ा हुआ है।

दूसरी बात यह है, श्रीमान्, कि हमने 'liberty' (स्वातंत्र्य) शब्द के पहले 'personal' (दैहिक) शब्द जोड़ दिया है और 'दैहिक स्वातंत्र्य रख कर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि इस अनुच्छेद का सम्बन्ध प्रसंविदा सम्बन्धी स्वातंत्र्य

[श्री चिम्मनलाल चक्कूभाई शाह]

(liberty of contract) या अन्य ऐसी बातों से नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध केवल प्राण तथा दैहिक स्वातंत्र्य से ही है। इसलिये यह कहना गलत होगा कि 'due process of law' शब्दों से कानून के सम्बन्ध में कोई अनिश्चितता उत्पन्न हो सकती है या कि इससे कानून पर विचार करने में न्यायाधीश-वर्ग अनावश्यक हस्तक्षेप करेगा।

सभी संघानीय (Federal) विधानों में न्यायाधीश-वर्ग को ऐसी शक्ति प्राप्त रहती है जिसके अनुसार वह कभी-कभी कानून की वैधानिकता पर निर्णय दे सकता है। सभी संघानीय विधानों में यह शक्ति न्यायाधीश-वर्ग में निहित रहती है। उदाहरणार्थ मैं बताऊं कि इंग्लैण्ड में न्यायाधीश-वर्ग कभी यह नहीं कह सकता है कि पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कानून अवैधानिक है। वह केवल यही कर सकता है कि कानून का भाष्य बता दे। किन्तु संघानीय विधानों में न्यायाधीश-वर्ग को यह निर्णय देने की शक्ति प्राप्त है कि कानून वैधानिक है या नहीं। अपने कई अनुच्छेदों में, हमने ही न्यायाधीश-वर्ग को लिखित रूप में यह शक्ति दी है कि वह इस सम्बन्ध में निर्णय दे सकता है कि कानून वैधानिक है या नहीं और विधान-मण्डल को उसे पास करने का अधिकार है या नहीं। मेरे मन में रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि इससे अधिशासी-वर्ग अपने किसी अधिकार पर मनमाने ढंग से अमल न करेगा और यह नियंत्रण बड़ा ही हितकर होगा।

कभी-कभी ऐसा होता है कि असाधारण परिस्थिति का सामना करने के लिए अधिशासी-वर्ग को असाधारण अधिकारों की ज़रूरत पड़ जाती है और सद्यस्कृत्यता की दशा के लिए वह विशेष कानून पास कर सकता है। विधान-मण्डल, जो कि साधारणत: अधिशासी-वर्ग द्वारा ही नियंत्रित होता है—क्योंकि बहुमत वाला दल ही अधिशासी-मण्डल यानी कैबिनेट बनाता है—सद्यस्कृत्यता की स्थिति के लिए अधिशासी-वर्ग को यह अधिकार दे दिया करता है। इसलिए यह उचित ही है हम न्यायाधीश-वर्ग को यह अधिकार दें कि वह कानून की वैधानिकता पर निर्णय दे सके।

कहा जा सकता है कि संकट काल में न्यायाधीश-वर्ग, हो सकता है, उन आवश्यकताओं को पूर्णत: न समझ सके जिनके कारण इस तरह का कोई कानून

बनाया जाये। किन्तु मेरे मन में ऐसी आशंका नहीं है। मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि न्यायाधीश-वर्ग परिस्थिति सम्बन्धी आवश्यकताओं पर पूर्णत: विचार करेगा जिनके कारण विधान-मण्डल को ऐसा कोई कानून पास करना पड़ा हो। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि इतना व्यापक कानून पास कर दिया गया है कि व्यक्ति अपने प्राण तथा स्वातंत्र्य से वंचित हो गया है और उसे अपने बचाव का कोई मौका भी नहीं दिया गया। अगर इस अनुच्छेद में 'without due process of law' शब्द रख दिये जाते हैं तो इसका परिणाम उससे कुछ और बुरा तो होगा नहीं जो मैं अभी बता चुका हूं। इससे यही हो सकता है कि कुछ लोग मौत और कैद की सज़ा से बच जायेंगे अगर न्यायाधीश-वर्ग की राय में कानून सख्त साबित हो जाता है। एक निर्दोष व्यक्ति को दण्ड मिले इससे क्या यह अच्छा नहीं है कि 9 दोषी ही दण्ड से बच जायें? अगर न्यायाधीश-वर्ग गलत निर्णय कर भी दे तो उसका अधिक से अधिक कुपरिणाम यही तो निकलेगा।

किन्तु आजकल स्वभावत: अधिशासी-वर्ग अधिकाधिक शक्ति पाने के लिए चिन्तित रहता है और वह पाता भी है। आजकल ऐसे-ऐसे कानून बनने लगे हैं कि अधिशासी-वर्ग को कानून बनाने की शक्ति सौंप दी जाती है और उनके अनुसार अधीनस्थ पदाधिकारियों को वारंट या इसी तरह की आज्ञा निकालने की शक्ति मिल जाती है। उदाहरण के लिए आप 'पब्लिक सेफ्टी मेज़र एक्ट' को ही लीजिए। इसके अनुसार, अगर पुलिस कमिश्नर को यह निश्चय हो जाये कि कोई व्यक्ति विशेष राज्य-हित के विरुद्ध काम करता है या यह कि उससे आम जनता की नि:शंकता संकट में पड़ जाती है तो बिना मुकद्दमा चलाये वह उसे हिरासत में ले सकता है।

हम जानते हैं कि इससे हमको ही नुकसान पहुंचता है कि पुलिस कमिश्नर जैसा अधिकारी भी निजी तौर पर मामले की छानबीन नहीं करता है जैसा कि उससे आशा की जाती है और अपने अधीनस्थ अधिकारियों की रिपोर्ट के आधार पर वारंट जारी कर देता है या उस पर अपना हस्ताक्षर दे देता है। ऐसी हालत में यह अच्छा है कि ऐसे अधिकारों के प्रयोग पर, अगर मनमाने ढंग से इन पर अमल किया जाता है तो, कुछ नियंत्रण लगा दिया जाये। इसलिए मैं पूर्णत: उस संशोधन का समर्थन करता हूं जिसमें अनुच्छेद में दिये गये शब्दों के स्थान पर

[श्री चिम्मनलाल चक्कूभाई शाह]

'without due process of law' शब्द रखने की बात कही गई है। मि. महबूबअली बेग ने ठीक ही बताया है कि अनुच्छेद में रखे गये शब्द जापानी विधान से लिए गये हैं किन्तु मसौदा-समिति ने उन अन्य प्रावधानों को नहीं अपनाया जिनसे इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट होता है। मुझे डर है कि मि. महबूबअली बेग ने जो संशोधन रखा है कि "save in accordance with law" शब्द रखे जायें उससे उनका ही उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। अगर वे यह चाहते हैं कि मसौदा-समिति ने जो पदसंहति रखी है उसको जापानी विधान के अन्य प्रावधानों के साथ मिलाकर पढ़ने से जो आशय उसका निकलता है वही आशय व्यक्त करने वाले शब्द उसके स्थान पर रखे जायें तो अच्छा यह होगा कि वह "without due process of law" शब्दों को स्वीकार कर लें और अपने "save in accordance with law" इन शब्दों को न रखें जो कि आयरिश विधान से लिये गये हैं और जिनका भी शायद वही मतलब है जो मसौदा-समिति द्वारा अनुच्छेद में रखे गये शब्दों का है। इसलिये मैं संशोधन नं. 528 का पूर्णतः समर्थन करता हूं।

***श्री कृष्णचन्द्र शर्मा** (संयुक्तप्रान्त : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, मेरे संशोधन में भी, जो कि 523 नं. का है, यही कहा गया था कि "except according to procedure established by law" शब्दों की जगह "without due process of law" ये शब्द रखे जायें। यह अनुच्छेद नागरिकों के दैहिक स्वातंत्र्य तथा प्राण के सम्बंध में प्रत्याभूति देता है। गणतंत्रीय राज्य में प्राण तथा स्वातंत्र्य की प्रत्याभूति कानून द्वारा दी जाती है। गणतंत्र का अर्थ ही यह है कि बजाय एक व्यक्ति के शासन के, चाहे वह व्यक्ति राजा के रूप में हो, निरंकुश एकतंत्र के रूप में हो, या जनसमुदाय के रूप में हो, हम पर कानून का शासन हो। इसके सिवाय गणतंत्र का और कोई अर्थ नहीं है। 'without due process of law' इन शब्दों से राज्य की अधिशासी शक्ति तथा विधि निर्माण सबंधी शक्ति दोनों पर ही एक आवश्यक प्रतिबंध लग जाता है। इनके पीछे जो सिद्धान्त सन्निहित है उसका ऐंग्लो-अमेरिकी कानून में एक लम्बा इतिहास है। यह पदसंहति कानून सम्बन्धी किसी खास नियम का निर्देश नहीं करती है बल्कि इसमें यह आदेश सन्निहित है कि न्याय ही मूलभूत सिद्धान्त है जिसका पालन होना चाहिए। न तो अंग्रेजी विधान में और न अमेरिकन विधान में ही कहीं इन शब्दों की व्याख्या की गई है किन्तु इस पदसंहति के सम्बंध में पहले जो कई

विवाद खड़े हुए हैं उनसे ही इनका अर्थ स्पष्ट होता रहा है। वस्तुत: राजा जान के समय में इंग्लैंड के कागज़ात में यह पदसंहति वर्तमान थी। वहां बैरनों ने राजा जान को 'मैग्ना कार्टा' नामक इतिहास प्रसिद्ध अधिपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया था। उस अधिपत्र में *'Per Legum Terrea'* ये शब्द आये हैं और आगे चलकर इनका अर्थ लिया जाने लगा है "without due process of law"। चार्टर के 39वें अध्याय में कहा गया है कि:

"No free man shall be taken, or imprisoned, disseized, or outlawed, exiled or in any way destroyed; nor shall we go upon him, nor send upon him, but by the lawful judgment of his peers or by the law of the land."

(सिवाय इसके कि लार्डों के वैध निर्णय के आधार पर या देश के कानून के आधार पर ऐसा किया जाये, अन्य किसी प्रकार किसी स्वतंत्र व्यक्ति को गिरफ्तार या कैद नहीं किया जायेगा, न उसे अधिकृत सम्पत्ति से अन्यायत: वंचित या कानून की शरण से वंचित किया जायेगा तथा न उसे निर्वासित किया जायेगा और न किसी भी रूप में उसको बर्बाद किया जायेगा; न राजा के लोग जाकर उसे पकड़ेंगे और न पकड़ने की आज्ञा निकाली जायेगी।)"

फिर इन शब्दों का प्रयोग हुआ है सन् 1331, 1351 तथा 1355 ई. में। एडवर्ड तृतीय के राज्य काल में कानून नं. 28 में कहा गया है:

"No man of what state or condition so ever he be, shall be put out of his lands or tenements, nor taken, nor imprisoned, nor indicted, nor put to death, without he be brought to answer by due process of law."

(जब तक कि समुचित विधि-प्रणाली द्वारा उसे अपनी सफाई देने का मौका न दिया जाये, किसी भी व्यक्ति को, चाहे उसकी दशा कुछ भी हो, उसके ज़मीन या लगान वाली जायदाद से न वंचित किया जायेगा, तथा न उसे गिरफ्तार या कैद किया जायेगा, न उस पर अभियोग लगाया जायेगा और न उसे प्राण से वंचित किया जायेगा।)

[श्री कृष्णचन्द्र शर्मा]

अमेरिकन विधान में, यह पदसंहति पहली बार सन् 1721 में प्रयुक्त हुई थी :

"Nor shall any person...be deprived of life, liberty or property, without due process of law."

(बिना समुचित विधि-प्रणाली के कोई भी व्यक्ति...अपने प्राण, स्वातंत्र्य या सम्पत्ति से वंचित न किया जायेगा।)"

उस पदसंहति का वास्तविक अर्थ यह है कि उसके द्वारा नागरिक को इस बात की प्रत्याभूति मिलती है कि अदालत उसके साथ समुचित न्याय करेगी और दोनों ही बातों को देखेगी कि विधि-प्रणाली समुचित रूप से बरती गई है या नहीं और जिस कानून के अनुसार उसे दोषी ठहराया जा रहा है वह ठीक तो है। उस सम्बन्ध में जो ज़ाब्ता रखा गया हो वह कानून के मुताबिक हो जो सभ्य समाज के विवेक में ठीक जंचे। जो मूलभूत कानून हो वह भी समुचित तथा सभ्य समाज की चेतना को ग्राह्य होना चाहिए जिससे कि न्याय हो सके। कानूनों की वैधानिकता को लेकर अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने जो विभिन्न निर्णय दिये हैं उनकी जांच करने पर पता चलता है कि न्याय के लिए मूलभूत इन चार सिद्धान्तों का पालन होना ही चाहिए। पहली बात तो यह कि कायदे के मुताबिक मुकद्दमा चलाया जाये, दूसरी बात यह कि न्यायालय, जहां उस मुकद्दमे की सुनवाई होती हो उसे कानूनन इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वह मुकद्दमे की सुनवाई कर सके। तीसरे, प्रतिवादी को इस बात का मौका मिलना चाहिए कि अपना पक्ष वह उपस्थित कर सके और चौथे उसे वकील की सहायता देनी होगी और उसके वकील को यह मौका मिलना चाहिए कि गवाह से पूरी तरह जिरह कर सके। इन चार मूलभूत बातों के होने से ही मुकद्दमे की ठीक तौर पर सुनवाई हो सकती है।

जहां तक सामाजिक प्रगति की बात है मेरे मित्र पं. ठाकुरदास भार्गव इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कह चुके हैं और उनकी बातों को यहां दुहराने की मुझे कोई ज़रूरत नहीं। किन्तु आपकी जानकारी के लिए मैं एक फैसला पढ़कर सुनाऊंगा जिससे स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। श्री विलोबाई की "Constitution

of the United States" नामक पुस्तक (पृष्ठ 1692) से यह फैसला उद्धृत किया जा रहा है। उसमें कहा गया है:

उदाहरण के लिए सन् 1875 ई. में लोन एसोशियेशन बनाम टोपेका के मुकद्दमे में न्यायालय ने कहा था:

"यह तो मानना ही होगा कि प्रत्येक स्वतंत्र शासन (Government) में लोगों को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त रहते हैं जो राज्य के नियंत्रण से परे होते हैं। वह सरकार जो इन अधिकारों को नहीं मानती, जो अपने नागरिकों के प्राण, स्वातंत्र्य तथा सम्पत्ति को भी सदा अपनी व्यवस्था और अपने अबाध नियंत्रण के अधीन रखती है, एक निरंकुश सरकार ही कही जायेगी चाहे प्रजातंत्रात्मक रूप से उसमें सभी शक्तियां ही क्यों न केन्द्रीभूत हों। हुकूमत, राज्य अथवा म्युनिसिपल संगठन के सम्बंध में हम लोगों का सिद्धान्त इसके बिल्कुल विरुद्ध है कि कहीं भी असीम शक्ति केन्द्रित की जाये। इन सभी सरकारों में जो अधिशासी-वर्ग है, कानून निर्माण करने वाला वर्ग है, तथा न्यायाधीश-वर्ग है, इन तीनों की ही शक्तियां सीमित हैं और लिपिबद्ध कर दी गई हैं। सरकार का शक्तियों पर कुछ प्रतिबंध रहते हैं क्योंकि प्रत्येक स्वतंत्र सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी शक्तियों को सीमाबद्ध रखे। व्यक्तियों को कुछ ऐसे अधिकार होते हैं जिनसे राज्य उन्हें वंचित नहीं कर सकता। इन अधिकारों के अभाव में समाज रह नहीं सकता और सभी सरकारें, जो सरकार कहलाने के लायक हैं, इन अधिकारों को मान्यता देती हैं। उदाहरणार्थ कोई भी न्यायालय ऐसे किसी कानून को अवैध बताने में जरा भी द्विधाबोध न करेगा जो यह कहता हो कि अमुक दम्पति अब दम्पति के रूप में साथ नहीं रह सकते। उनमें से स्त्री को तो अमुक पुरुष की पत्नी बनना होगा और पुरुष को अमुक स्त्री का पति बनना होगा; जो यह कहता हो कि अमुक व्यक्ति का घर-द्वार अब अमुक की सम्पत्ति समझा जायेगा।'"

इन शब्दों के साथ, श्रीमान्, मैं संशोधन का समर्थन करता हूं।

***श्री एच. वी. पातस्कर** (बम्बई : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, संशोधन नं. 528 का समर्थन करने के लिए मैं खड़ा हुआ। हूं जिसमें कहा गया है कि "except according to procedure established by law" शब्दों की

[श्री एच.वी. पातस्कर]

जगह 'without due process of law" शब्द रखे जायें। मैं सभा का थोड़ा ही समय लूंगा और चन्द मिनटों में ही अपनी बात कह दूंगा। इस प्रश्न के कानूनी पहलू पर यहां काफी बहस हुई है। किन्तु मैं एक दूसरे ही दृष्टिकोण से इस संशोधन को रखना चाहता हूं। हमारा राज्य श्रीमान्, एक गणतंत्रात्मक राज्य होने जा रहा है। गणतंत्र में पार्टी का शासन होता ही है और हमारे देश में अभी पार्टी-हुकूमत एक नई चीज़ है और हमारे सामने ऐसी घटनाएं हुई हैं जिनके कारण हम यह सोचने लग गये हैं कि पार्टी-हुकूमत सम्भव है ऐसी प्रणाली का विनिधान करें जो उन सब अधिकारों को व्यर्थ कर दे, जो मूलाधिकारों के अध्याय में हमने नागरिकों को दिये हैं। अपने अनुभव से हमें मालूम है कि कई प्रान्तों में ऐसे कानून बना दिये गये हैं जिसमें किसी को हिरासत में रखने के सम्बन्ध में कुछ जाब्ते की बातें कही गई हैं। इन कानूनों की जनता ने बड़ी ही तीव्र आलोचना की है। इसलिए मैं कहूंगा, श्रीमान्, कि दैहिक स्वातंत्र्य के अधिकार की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि "without due process of law" शब्द यहां रखे जायें। इन शब्दों के साथ मैं संशोधन का समर्थन करता हूं और इसके पक्ष में जो कुछ और कहा गया है उसको दुहराना नहीं चाहता।

***श्री के.एम. मुंशी:** उपाध्यक्ष महोदय, मैं संशोधन नं. 528 का समर्थन करना चाहता हूं जिसमें कहा गया है कि "except according to procedure stablished by law" शब्दों की जगह "without due process of law" शब्द रखे जायें। मेरी तुच्छ राय में अगर इस खण्ड को इसी रूप में रहने दिया जाता है तो इसका कुछ अर्थ ही नहीं होगा क्योंकि, न्यायालय द्वारा विधि-विहित प्रणाली अगर नहीं बरती गई तो उसके लिए ऐसे न्यायालय होंगे जहां अपील करके गलती को सुधारा जा सकता है। इस खण्ड की सार्थकता तो तभी है जब न्यायालय न सिर्फ यह देखें कि सज़ा ज़ाब्ते के मुताबिक दी गई है बल्कि इस बात को भी देखे कि मूलभूत कानून भी सही है या नहीं। हम एक गणतंत्रात्मक राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। सभा ने बार-बार यहां अपने इस उद्देश्य को दुहराया है। गणतंत्र की विशेषता ही इसमें है कि व्यक्तिगत स्वातंत्र्य तथा सामाजिक नियंत्रण—इन दोनों में संतुलन हो। हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि

विधान-मण्डल में जिस दल का बहुमत होता है उसे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी कि इस बात की कि समाज पर नियंत्रण बना रहे। इसलिए कुछ ऐसी योजना बनानी ही होगी जिससे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य तथा सामाजिक नियंत्रण दोनों का पल्ला बराबर रहे अर्थात् इन दोनों की आवश्यकताओं में संतुलन स्थापित किया जा सके। अमेरिका के प्रसिद्ध विधान-विशारद इस बात पर एक मत हैं कि इस अपेक्षित संतुलन के लिये उससे अच्छा और कोई मार्ग नहीं निकाला जा सकता है जो कि अमेरिकन विधान में अपनाया गया है। अवश्य ही, जैसा कि सभा को मालूम है, कानून-विशारदों को मतभेद में बड़ा आनन्द मिलता है और अमेरिका में भी इस व्यवस्था के विरुद्ध कुछ जनमत है। किन्तु जैसा कि मेरे माननीय मित्र श्री सी. सी. शाह ने बताया है, हमने काफी परिवर्तन के साथ अमेरिकन विधान की इस व्यवस्था को अपनाया है। अमेरिकन विधान में कहा गया है कि समुचित विधि-प्रणाली के सिवाय अन्य किसी प्रकार कोई भी नागरिक अपने प्राण, स्वातंत्र्य या सम्पत्ति से वंचित न किया जायेगा। इस खण्ड के कारण सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों में वहां बड़ी दिक्कत पड़ी थी। वह शब्द हटा दिया गया है। 'स्वातंत्र्य' शब्द का इतना व्यापक अर्थ लिया गया था कि उसके अन्दर कन्ट्राक्ट की स्वतंत्रता भी शामिल थी। इसलिए इस शब्द के पूर्व एक विशेषण रख करके इसे सीमित कर दिया गया है। अब यह खण्ड व्यक्तियों की स्वतंत्रता तक ही सीमित है अर्थात् बिना समुचित विधि-प्रणाली के कोई भी न अपराधी बताया जायेगा, न कैद में रखा जायेगा अथवा न उसे मृत्यु-दण्ड ही दिया जायेगा। संशोधन नं. 528 के द्वारा खण्ड को जिस रूप में रखने की कोशिश की जा रही है उसमें उसका यही सीमित अर्थ होगा।

अब हमें जिस प्रश्न पर विचार करना है वह मेरे ख्याल से केवल यह है कि 'due process' शब्दों का क्या असर होता है? अब इन शब्दों के प्रभाव को केवल दैहिक स्वातंत्र्य तक ही सीमित कर दिया गया है। इस खण्ड से न्यायालय को यह अधिकार हो जाता है कि वह केवल ज़ाब्ते की बात को ही न देखे अर्थात् वह इतना ही न देखे कि न्यायालय की अधिकार-सीमा के अन्दर वह मामला है या नहीं, विधान-मण्डल की अधिकार-सीमा के अन्दर वह कानून आता है या नहीं, बल्कि वह यह देख सकेगा कि मूलभूत कानून सही है या नहीं। अगर कोई

[श्री के.एम. मुंशी]

ऐसा कानून पास होता है जिससे शासन को किसी व्यक्ति के दैहिक स्वातंत्र्य का अपहरण कर लेने का अधिकार मिल जाता है तो न्यायालय इस बात पर विचार करेगा कि जो कानून पास किया गया है वह वस्तुतः क्या ऐसा है कि उस परिस्थिति में वह आवश्यक है। इसलिए, जैसा कि मैं कह चुका हूं, इससे यह होगा कि व्यक्ति के स्वातंत्र्य, तथा समाज पर नियंत्रण, इन दोनों में संतुलन आ जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि शासन को न्यायालय को इस बात का औचित्य समझाना पड़ेगा कि नागरिकों के दैहिक स्वातंत्र्य पर आघात करने वाला कानून किसलिए लागू किया गया है। यह आशंका कि 'due process' वाले खण्ड से अमेरिका में कानूनी व्यवस्था में बड़ी गड़बड़ी हुई, वस्तुतः सही नहीं है। आंकड़े तो मेरे पास मौजूद नहीं हैं किन्तु मुझे याद है कि मैंने कहीं ऐसा पढ़ा है कि "due process" को लेकर जितने भी मामले हुए हैं उनमें करीब 90 प्रतिशत में अमेरिकन न्यायालयों ने विधान-मण्डलों की कार्रवाई को ही कायम रहने दिया है। ऐसे मामलों में जिनमें दैहिक स्वातंत्र्य का प्रश्न था शासन को न्यायालय के समक्ष जाकर इस बात का औचित्य दिखलाना पड़ा था कि क्यों उस कानून का पास करना जरूरी था जिसके अनुसार अपील करने वाले व्यक्ति को दण्ड दिया गया था। गणतंत्र में यह नितान्त आवश्यक है कि शासन को इस बात का मौका दिया जाये कि जो पथ वह अपनाये उसका औचित्य प्रमाणित करे। और बातों के अलावा यह एक हितकर बात है कि शासन को इस बात का मौका मिले कि वह अपनी कार्रवाई का औचित्य अदालत को सिद्ध करे।

मुझे मालूम है कि कतिपय सदस्यों का यह ख्याल है कि आज इस देश में सद्यस्कृत्यता की जो दशा वर्तमान है उसमें सम्भव है कि इस खण्ड के बड़े घातक परिणाम हों। मैं सम्मानपूर्वक कहूंगा कि इस दृष्टि से सहमत होने में मैं असमर्थ हूं। (*बाधा*) प्रान्तों में हमारे जो सुरक्षा-कानून (Safety Acts) हैं, उन्हीं को लीजिए। देश की जो आज अवस्था है उसमें न्यायालय निश्चय ही उनको कायम रहने देगा और कदाचित यदि ऐसे कानूनों में से एक-दो न्यायालय ना भी कायम रहने दें तो इससे कुछ भी आता-जाता नहीं है। प्रान्त के विधान-मण्डल का समर्थन पाकर तथा वहां के सुयोग्य कानून-विशारदों की सहायता पाकर मानव

बुद्धि अवश्य ही इस रूप में कोई कानून बना लेगी कि वहां शान्ति और व्यवस्था कायम रखी जा सकेगी।

इसलिए मेरा कहना यह है कि यह खण्ड आवश्यक है और इसके दुरुपयोग की सम्भावना नहीं है। दुर्भाग्य से हमारे देश में जो विधान-मण्डल हैं उनमें एक दल का प्रबल बहुमत है और उसको विकट-विकट समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। स्वभावत: उनमें एक ऐसी प्रवृत्ति आ गई है कि वे पुलिस तथा अधिशासी-वर्ग को व्यापक अधिकार देने वाले कानूनों को जल्दबाज़ी में पास कर देना चाहते हैं। यदि ऐसे कानूनों के औचित्य पर निर्णय देने का अधिकार न्यायालय को न रहा तो फिर इन पर कोई रोक न रह जायेगी। उदाहरण के लिये मैं आपको बताऊं मैंने अभी उस दिन पढ़ा है कि अपने एक प्रान्त में एक ऐसा कानून बनने जा रहा है या शायद बन चुका है जिसके अनुसार अपराधी को मामले की पैरवी के लिए वकील की मदद न दी जायेगी। आखिर इसको आप कैसे रोकेंगे? एक दूसरे प्रान्त के सम्बन्ध में मैंने पढ़ा है कि वहां किसी अधिशासी-प्राधिकारी की रिपोर्ट या उसका कहना ही किसी बात का यथेष्ट प्रमाण माना जायेगा। यह ध्यान रहे कि सरकार के किसी सेक्रेटरी की रिपोर्ट को नहीं बल्कि मामूली प्राधिकारी की रिपोर्ट को यह वज़न दिया गया है। इससे अपराधी के लिए बड़ी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं और मैं समझता हूं, जैसा कि मैं कह चुका हूं, कि गणतंत्र में एक-न-एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सामाजिक-नियंत्रण इन दोनों का पल्ला बराबर रहे। अपनी वर्तमान आकस्मिक आवश्यकता के कारण शायद हम इस बात को भूल गये हैं कि यदि व्यक्ति-स्वातंत्र्य को इतनी गुंजाइश नहीं दी जाती है और न्यायालय का रक्षण इसे नहीं दिया जाता है तो इससे एक ऐसी परम्परा पैदा होगी जिससे अन्ततोगत्वा, जो भी थोड़ा-बहुत दैहिक स्वातंत्र्य हमें प्राप्त है वह भी जाता रहेगा। इसलिए मेरा अपना कहना यह है, श्रीमान्, कि इस संशोधन को हमें स्वीकार करना चाहिए।

***श्री अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर** (मद्रास : जनरल): उपाध्यक्ष महोदय, इस अनुच्छेद पर होने वाले वाद-विवाद से यह प्रकट होता है कि सभा के अधिकांश सदस्य 'due process' की पदसंहति को रखने के पक्ष में है और 'procedure established by law' की पदसंहति को नहीं रखना चाहते हैं

[श्री अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर]

जिसका कि मसौदा-समिति ने आखिर में चल कर सुझाव दिया है। मैं यहां "आखिर में चल कर" शब्दों का प्रयोग इसलिए कर रहा हूं कि माननीय मित्र श्री मुंशी ने इसके सम्बन्ध में प्रतिकूल मत व्यक्त किया है।

मसौदा-समिति के साथियों के प्रति, उसके आदरणीय सभापति के प्रति तथा अपने प्रति मेरा यह कर्त्तव्य है कि कम से कम समिति द्वारा सुझाये गये परिवर्तन के औचित्य को बताने के लिये मैं चन्द शब्द यहां कहूं क्योंकि सम्भवत: सभा इस पर अन्तिम समय तक अपना मत बदल सकती है।

अंग्रेज़ी न्यायाधीशों के भाष्यानुसार 'due process' (समुचित प्रणाली) शब्दों से यही अर्थ सूचित होता था कि अधिकारों की रक्षा के लिए बने हुए नियमों और जाब्तों के मुताबिक समुचित कानूनी कार्रवाई की जाये और सम्बन्धित मामले में जैसी कार्यविधि लागू होती हो उसके अनुसार न्यायालय में ठीक-ठीक मुकद्दमा चलाकर फैसला किया जाये। यदि इस पदसंहति का ठीक-ठीक अर्थ लोग समझते जैसा कि अंग्रेज़ी न्यायाधीशों के भाष्य के अनुसार शुरू में इसका अर्थ लिया गया था तो शायद यहां इसको लेकर कोई कठिनाई ही न होती। किन्तु अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे अनेक विवादों में, जो राजनैनिक फैसले हुए हैं उनसे इस पदसंहति को एक भिन्न अर्थ मिल गया है। आज प्रो. विलिस के अनुसार, इस पदसंहति का अर्थ वही है जो किसी खास मामले में सर्वोच्च न्यायालय इसका अर्थ बतावे। सम्भव है कि गणतंत्र के कुछ प्रबल समर्थकों को न्यायाधीश-वर्ग पर अधिक विश्वास हो और जनप्रिय विधान-मण्डल कानून के रूप में जनता की जो भावना व्यक्त करे, उस पर उनको उतना विश्वास न हो। किसी अदालत में तीन या पांच न्यायाधीश बैठकर दोनों तरफ के वकीलों की दलीलों को, उनके लम्बे भाषणों को सुनकर यह कहते हैं कि उनकी राय में इस मामले में 'due process' का ठीक-ठीक अर्थ अमुक है। हो सकता है कि कुछ गणतंत्रवादियों को इस सम्बन्ध में इस तरह का फैसला ही ज़्यादा पसन्द हो और विधान-मण्डल द्वारा व्यक्त की हुई भावना तथा दायित्वपूर्ण अधिशासी-वर्ग द्वारा की हुई कार्रवाई उन्हें कम जंचती हो। 'due process' वाले सिद्धान्त का जिस प्रकार वहां विकास हुआ है उसके सिलसिले में आप देखेंगे अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने कभी भी एक-सा रुख नहीं रखा है। उसके निर्णय प्राय: परस्पर विरोधी हैं। अक्सर यह

हुआ है कि एक फैसले ने दूसरे फैसले को उलट दिया है। कानूनी पेशे के किसी सदस्य को, जिसे अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्णीत मामलों का गहन ज्ञान है, मैं यह चुनौती दूंगा कि वह यह कहे तो सही कि 'due process' के भाष्य के सम्बन्ध में वहां एकरूपता है। जो भी सज्जन मेरे इस कथन की पुष्टि चाहते हैं वह लॉ रिपोर्ट का सभाष्य एडीशन उठाकर 15 वर्षों की सूची ले लें और फैसलों का मिलान कर लें। वह देखेंगे कि एक फैसला दूसरे से भिन्न है और अन्ततोगत्वा वह इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि इस पदसंहति का कोई निश्चित आशय नहीं है। मौके पर जो भी प्रधान न्यायाधीश के रूप में उपस्थित था उसने जो ठीक समझा वही इस पदसंहति का अर्थ हुआ। जस्टिस होम्स का मत सामाजिक नियंत्रण के पक्ष में था और अन्य कई न्यायाधीश जो अनुदारदलीय मनोवृत्ति के थे उन्होंने व्यक्ति के स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के पक्ष में अपना प्रबल मत दिया। इस मामले में अमेरिकन सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में एकरूपता है ही नहीं।

कई मित्रों ने तो यही मान कर अपनी वक्तृताएं दी हैं कि मानो वह केवल उन्हीं मामलों में लागू होगा जहां कोई हिरासत या कैद में रहेगा। न्यूनतम पारिश्रमिक के सम्बन्ध में सेवायोजन के नियंत्रण के सम्बन्ध में जो कानून हैं (the Minimum Wage Law or a Restraint on Employment) उनको भी, अमेरिकन सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पहले के निर्णयों में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आघात ही बतलाया है। इसके लिए दलील यह दी गई है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का यह एक आवश्यक अंग है कि हर व्यक्ति को, चाहे वह स्त्री हो, चौदह वर्ष के ऊपर का बालक हो या मज़दूर हो, किसी भी कन्ट्राक्ट (ठेके) पर, जिसे वह पसन्द करता हो, एक पक्ष की हैसियत से रज़ामन्दी देने का हक है। उसकी इस स्वतंत्रता में दखल देने का बाहरी व्यक्ति को अधिकार नहीं है। इस दलील के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पहले के निर्णयों में यह मत व्यक्त किया है कि न्यूनतम पारिश्रमिक कानून (Minimum Wage Laws) व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आघात करते हैं और ये लागू नहीं हो सकते। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि नई स्थिति आने के बाद अब इधर पासा बिलकुल पलट गया है।

[श्री अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर]

किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में एकरूपता नहीं रही है। आशा है, अगर यह संशोधन पास हो जाता है तो इस खण्ड का भाष्य करने में हमारा सर्वोच्च न्यायालय अमेरिका की नज़ीर का अनुकरण न करेगा और खासतौर पर शुरुआत में तो वह ऐसा कदापि न करेगा, बल्कि वह इस रूप में इसका भाष्य देगा कि वह भारत की अवस्था के लिए तथा देश की समुन्नति और भलाई के लिए अनुकूल सिद्ध होगा। सामाजिक कानून बनाने में, मालिक और मज़दूर के सम्बन्ध में, बालक-बालिकाओं और स्त्रियों की रक्षा में इस खण्ड के कारण बड़ी बाधा पहुंचेगी। यह खण्ड यथेष्ट रूप में समुचित भी सिद्ध हो सकता है यदि हमारे न्यायाधीश केवल इतना करें कि वह समय की गति के अनुसार चलें और जो मामले उनके सामने आयें उन पर बुद्धिमत्ता का पूर्ण प्रयोग करें। किन्तु अंग्रेज़ी राज्य के प्रारम्भिक काल से ही हम लोगों के अन्दर वकीलों के लिए कानूनी दलीलों के लिए, कानूनी राय-मशवरे और अदालत के लिए कुछ विश्वास पैदा हो गया है। कानूनी पेशे में रहकर मैंने काफी नाम कमाया है, पैसा कमाया है और इस कारण मुझे व्यक्तिगत रूप से उन लोगों से कोई झगड़ा नहीं जो वकीलों में आस्था रखते हैं। अमेरिकन इतिहास के आरम्भिक काल में वहां वकीलों ने कभी दैहिक स्वातन्त्र्य के नाम पर, कभी सम्पत्ति-रक्षा के नाम पर बड़े-बड़े ट्रस्टों, कारपोरेशनों और कम्पनियों का ही साथ दिया जो उन्हें फीस में लम्बी रकमें दे सकते थे। आखिर "दैहिक स्वातंत्र्य" शब्द का वही आशय या अर्थ नहीं है जो कि हमारे कई मित्र बतलाते हैं। बिना ठीक तौर पर मुकद्दमा चलाये लोगों को हिरासत में रखा जाये, इस ख्याल से इन लोगों के दिलों को स्वभावतः ठेस पहुंचती हैं। मेरे दिल को भी इससे ठेस पहुंचती है, किन्तु 'due process' की पदसंहति के प्रसंग में "दैहिक स्वातंत्र्य" शब्दों को अमेरिकन न्यायालयों ने यह अर्थ दिया ही नहीं है। मैं विश्वास करता हूं कि सभा इस प्रश्न के अन्य विभिन्न पहलुओं पर भी पूरा ध्यान देगी। भारत की भावी समुन्नति, राज्य की भलाई और सुरक्षा, व्यक्ति को एक-न-एक हद तक स्वातंत्र्य देने की आवश्यकता, तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं सामाजिक नियंत्रण के बीच सामंजस्य रखने की आवश्यकता—

इन सबका विचार करके ही सभा इस सम्बन्ध में किसी अन्तिम निर्णय पर पहुंचेगी। हमें एक और बात का भी ख्याल रखना होगा और वह बात यह है कि हमारा राज्य उतना सुरक्षित नहीं है जितना कि आज हम समझ रहे हैं। उदाहरण के लिए आप आमतौर पर होने वाले उन मामलों को ही ले लीजिए जिसमें बिना मुकद्दमा चलाये लोगों को नज़रबन्द कर दिया जाता है। आपको बता दूं कि एक वकील की हैसियत से मैं इसके खिलाफ हूं कि बिना सफाई देने का मौका दिये ही किसी को नज़रबन्द कर दिया जाये। किन्तु सफाई के लिये यह ज़रूरी नहीं है कि अदालत में ही बहस-मुबाहिसे के ज़रिये, शहादत के ज़रिये, जिरह के ज़रिये अभियुक्त अपनी सफाई दे। मैं जानता हूं कि आज मद्रास में एक विशेष समिति नियुक्त की गई है, जिसमें वहां के हाईकोर्ट के एक जज, वहां के ऐडवोकेट जनरल तथा एक और सज्जन हैं। यह समिति इसलिए नियुक्त की गई है कि वह नज़रबन्दों के सभी मामलों की छानबीन करे और यह देखे कि उनको नज़रबन्द रखने का समुचित कारण है कि नहीं। समिति के अभाव में सभी मामले अदालत के सामने जाते और वकीलों के लिये शायद यह एक अच्छी ही बात होती। यद्यपि मैं बूढ़ा हो चला हूं फिर भी भविष्य में वकालती द्वंद्व में भाग लेने का अभी भी मुझमें बल है—मैं सर्वथा निराश नहीं हूं।

इस संशोधन को जो समर्थन प्राप्त हुआ है उससे व्यक्त है कि विधान-मण्डल के सदस्यों का, हमारे विधान निर्माताओं का देश के न्यायाधीश-वर्ग में प्रबल विश्वास है। मसौदा-समिति ने 'due process' की जगह 'procedure' शब्द रखने का जो सुझाव दिया उसमें संभवत: उसका दोष इतना ही था कि उसने यह आशंका की कि न्यायाधीश-वर्ग कानूनों का भाष्य करने में कहीं अपनी सनक से न काम ले और जो जी में आये निर्णय न दे दे। मसौदा-समिति ने तो अपना सुझाव दे दिया है, पर इस पर अन्तिम निर्णय तो सभा को ही करना है। राज्य की सुरक्षा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आवश्यकता तथा राज्य और व्यक्ति में परस्पर मेल, इन सब बातों पर विचार करते हुए इस सभा को ही अन्तिम रूप से निर्णय करना होगा कि यह पदसंहति रखना ठीक है या नहीं। मैं अभी भी अपना विचार बदल सकता हूं। इसके पक्ष में अगर कुछ तर्क पेश किए जाते हैं, तो सम्भव है उनसे प्रभावित होकर मैं अपना मत बदल दूं।

***मि. ज़ैड. एच. लारी:** उपाध्यक्ष महोदय, पूर्ववक्ता न सभा का ध्यान उन खतरों की ओर आकृष्ट किया है जो संशोधन नं. 528 तथा 530 के द्वारा इस अनुच्छेद के संशोधित होने पर राज्य के लिये आ सकते हैं। मुझे उतना अनुभव तो नहीं है जितना कि मेरे माननीय पूर्ववक्ता को प्राप्त है किन्तु विधान-मण्डल की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में गत दस वर्षों से जो भी थोड़ा-बहुत अनुभव मुझे मिला है, उसके आधार पर मैं यह कह सकता हूं कि न केवल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के ही हित में बल्कि इसलिए भी इस संशोधन को विधान में स्थान देना आवश्यक है कि विधान-मंडल सुचारु रूप से काम कर सके। पूर्ववक्ता महोदय को अधिकार है कि अपनी वकालती जिन्दगी की आखिरी मंजिल पर पहुंच कर इस पेशे पर कटाक्ष करें, किन्तु मैं कह सकता हूं कि न्याय-प्राप्ति के लिये वकीलों की सहायता बहुत ही आवश्यक एवं अपेक्षित है।

***श्री अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर:** एक औचित्य प्रश्न है, श्रीमान्। कानूनी पेशे पर मैंने कोई कटाक्ष नहीं किया।

***श्री ज़ैड.एच. लारी:** मैं उनकी बात को स्वीकार कर लेता हूं।

मैं समझता हूं कि इस सम्बन्ध में दो बातें आवश्यक हैं। हम सभी जानते हैं कि आजकल राज्य सर्वेसर्वा होता है, उसके हाथ में सभी शक्तियां रहती हैं उसके बल-प्रयोग की कोई हद नहीं है। किन्तु फिर भी जीवन के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें बल-प्रयोग का अधिकार अधिशासी-वर्ग को न होना चाहिए और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ऐसा ही क्षेत्र है। अमेरिका में 'personal' (दैहिक) शब्द तो कभी था ही नहीं। वहां केवल 'liberty' (स्वातन्त्र्य) शब्द ही विधान में था और सम्भवत: वहां की जो स्थिति थी उसमें इसका भाष्य इस प्रकार से किया जा सकता था कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी 'due process of law' (समुचित विधि प्रणाली) शब्द लागू हो सकें। किन्तु जब खंड में 'personal liberty' (दैहिक-स्वातन्त्र्य) शब्द रख दिया गया है तो मैं नहीं समझता कि कोई भी न्यायालय जिसे राज्य की आवश्यकताओं का और साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आवश्यकता का भी ज्ञान है वह राज्य के हित के प्रति इतना उपेक्षा भाव रखेगा कि इसका ऐसा भाष्य करेगा कि राज्य के सुचारु रूप से काम करने पर कोई

आघात पड़े। मेरे मित्र ने यह स्वीकार किया है कि अपने बाद के निर्णयों में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने ही राज्य की आवश्यकताओं को स्वीकार किया है और अनुच्छेद का भाष्य इस प्रकार से किया है कि राज्य के सुचारु रूप से कार्य करने में कोई बाधा न पहुंचे। मैं यह कहूंगा कि हमारे देश का सर्वोच्च न्यायालय इस बात को अच्छी तरह समझेगा कि व्यक्ति को कहां स्वातन्त्र्य मिलना चाहिये और वह यह भी अच्छी तरह समझेगा कि राज्य की आवश्यकतायें क्या हैं और तदनुसार इस रूप से इसका भाष्य देगा जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी।

***पं. ठाकुरदास भार्गवः** मसौदा-समिति ने भी अपने नोट में यही कहा है।

***श्री ज़ैड. एच. लारीः** मेरे माननीय मित्र ठीक कह रहे हैं। मसौदा-समिति ने, जिसके एक सदस्य मेरे पूर्ववक्ता मित्र भी थे, अपने सुझाव का एकमात्र कारण यह बताया था कि "due process of law" का कोई निश्चित अर्थ नहीं है और जापानी विधान में प्रयुक्त पदसंहति का अर्थ अधिक निश्चित है। इसमें शक नहीं कि जापानी विधान में जो शब्द रखे गये हैं उनका एक निश्चित अर्थ है क्योंकि कार्य-पद्धति को वहां स्पष्ट कर दिया गया है और यह लिपिबद्ध कर दिया गया है कि यही ज़ाब्ता बरता जायेगा। आखिर 'due process of law' इन शब्दों का मूल अभिप्राय क्या है? मेरी समझ से इसके दो अभिप्राय हैं। पहला तो यह कि किसी व्यक्ति को अपराधी बताने के पहले उसकी पूरी जांच होनी चाहिए और दूसरा यह कि मुकद्दमा चलाकर तब उसे सज़ा दी जाये। यदि विधान-मण्डल कोई ऐसी विधि निर्धारित करता है जिसके अनुसार उस व्यक्ति को, जिसे अपराधी बताया गया हो या जिसके अपराधी होने का शक हो, अपनी सफाई देने का मौका मिलता हो और तब पूरी छानबीन के बाद न्यायालय का निर्णय उसे दिया जाये तो मैं कहूंगा कि 'due process' का अभिप्राय पूरा हो जाता है। मैं सभा से अनुरोध करूंगा कि वह इस बात पर विचार करे कि किसी भी देश में, चाहे वहां की जो भी स्थिति हो, जैसी भी अस्थिर अवस्था हो, इस बात की जरूरत है कि नहीं कि वहां हर नागरिक यह समझे कि सज़ा पाने के पहले उसे अपनी सफाई देने का मौका मिलेगा और पूरी छानबीन के बाद न्यायालय द्वारा किये गये निर्णय के अनुसार ही उसके साथ व्यवहार किया जायेगा न कि जबरदस्ती उसे नज़रबन्द कर दिया जायेगा? सभा को याद होगा कि अभी हाल में मानव-अधिकारों का

[श्री ज़ैड. एच. लारी]

मसौदा लिपिबद्ध करने का प्रश्न खड़ा हुआ था और इसको लिपिबद्ध कर भी दिया गया है। उसमें एक खण्ड इस आशय का भी है कि किसी भी व्यक्ति को मनमाने ढंग पर नज़रबंद न किया जायेगा। अब मैं पूछता हूं कि मनमानी नज़रबंदी को रोकने का आखिर उपाय क्या है? अगर आप इस खण्ड का रूप यही रहने देते हैं अर्थात् इसमें "procedure established by law" शब्दों को ही रखते हैं तो इसका मतलब यह होगा कि विधान-मण्डल ही सर्वेसर्वा होगा और परिस्थिति के अनुसार जो भी ज़ाब्ता ठीक समझा जायेगा उसे न्यायालय को मानना होगा। किन्तु कुछ ज़ाब्ते ऐसे हैं जो प्रकृत्या अधिकार रूप में मनुष्य को प्राप्त हैं और विधान-मण्डल को इन अधिकारों पर हाथ डालने का हक नहीं होना चाहिए। व्यक्ति हो या विधान-मण्डल की सभायें हों या कोई भी जनसमुदाय हो, सभी कभी-कभी आवेग और उत्तेजना के शिकार हो जाया करते हैं और आप खुद समझ सकते है, श्रीमान्, कि आज की अवस्था में, खास करके अपने विधान को ध्यान में रखते हुए जो कि संसदात्मक शासन-पद्धति के लिए निर्मित है, विधान-मण्डल पर कैबिनेट का ही नियंत्रण होगा अर्थात् अधिशासी-वर्ग का ही नियंत्रण होगा। हमने अध्यादेश यानी आर्डिनेन्स का भी प्रावधान कर दिया गया है। इसका मतलब यह हुआ कि मंत्रिमण्डल जिसमें 8-10 सदस्य होंगे, स्थिति विशेष का निर्णय करके आर्डिनेंस निकालेंगे और विधान-मण्डल को उसका समर्थन करना होगा क्योंकि वैसा न करना मंत्रिमण्डल पर अविश्वास करना है। इस तरह विवेचन करने पर हम देखेंगे कि मंत्रिमण्डल या अधिशासी-वर्ग ही विधान-मण्डल है। इसलिए हमारे सामने यह सवाल उठता है कि क्या अधिशासी-वर्ग को उतनी व्यापक शक्ति देना ठीक होगा जिससे वह दैहिक-स्वातंत्र्य का जो मूलभूत-प्राथमिक-अधिकार नागरिकों को प्राप्त है उस पर भी हाथ डाल सके या यह उचित होगा कि अधिशासी-वर्ग की शक्ति पर कुछ नियंत्रण रखा जाय? अगर आप कोई नियंत्रण रखना चाहते हैं तो इस संशोधन को स्वीकार करके ही आप अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकते हैं जिसे कि एक कांग्रेस सदस्य ने ही रखा है यानी नं. 528 का संशोधन। मेरा संशोधन जिसका नं. 530 है वह भी इसी आशय का है।

मेरे मित्र ने, जिन्होंने दूसरे पक्ष का प्रतिपादन करते हुए अभी भाषण दिया है, उदाहरण के रूप में ब्रिटिश काल में बताये गये कानूनों का उल्लेख किया, जिन अधिकारों का तब न्यूनन किया गया था: उनकी चर्चा भी और निर्दोष नागरिकों को हिरासत में रखे जाने की चर्चा भी। किन्तु इस सम्बन्ध में विनम्रतापूर्वक मैं यह निवेदन करूंगा कि प्रत्येक विधान-मण्डल और प्रत्येक शासन से ऐसी भूलों की सम्भावना हो सकती है जैसी कि ब्रिटिश सरकार ने की थी। कानून जो भी ज़्यादती करे उसका परिमार्जन आप यह कहकर नहीं कर सकते कि ये ज़्यादतियां ऐसे विधान-मण्डलों ने की हैं जिनको स्वयं जनता ने ही चुना है। इसी कारण से तो पृथक्-पृथक् दो क्षेत्र रखे गये हैं। एक व्यक्ति-स्वातंत्र्य का और दूसरा वह जहां राज्य हमारे जीवन पर आयंत्रण करता है। आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि फिर राज्य के लिए बच ही क्या जाता है? व्यक्ति के दैहिक-स्वातंत्र्य को छोड़ कर अन्य सभी बातें तो राज्य के लिए ही बच जाती हैं। यहां आप राज्य की स्थिरता का प्रश्न उठा सकते हैं पर मैं कहूंगा कि अगर कोई ऐसा वर्ग या सम्प्रदाय है जो हिंसा की ओर उन्मुख है तो ऐसों से निपटने के लिए हमारे विधान में यानी अनुच्छेद 13 में यथेष्ट व्यवस्था है। ऐसे मामलों में राज्य इन लोगों के स्वातंत्र्य का न्यूनन कर सकता है और उनकी कार्रवाइयों पर रोक लगा सकता है। पर एक व्यक्ति क्या करेगा? अगर ऐसे दल हैं जिनके उद्देश्य राज्य की स्थिरता के लिए घातक हो सकते हों तो विधान में इसके लिए पर्याप्त प्रावधान हैं और उनके द्वारा आप इन दलों को अवैध करार दे सकते हैं। किन्तु प्रस्तुत खण्ड का दायरा तो बहुत ही सीमित है अर्थात् वह केवल दैहिक-स्वातंत्र्य से ही सम्बन्ध रखता है। मेरा कहना है कि हमारा राज्य इतना कमज़ोर नहीं है कि किसी व्यक्ति विशेष की कार्रवाई के फलस्वरूप यह विनष्ट हो जायेगा और यह भी स्मरण रहे कि व्यक्ति को हर बात की स्वतंत्रता ही नहीं रहेगी। आप उसे न्यायालय के सामने पेश करते हैं; अदालत उसके कारनामों के सम्बन्ध में निर्णय दे सकती है। इसमें शक नहीं कि उसे सफाई के लिए वकील की सहायता देनी होगी और उसके विरुद्ध साक्ष्य उपस्थित करने की ज़िम्मेदारी सरकार पर होगी। किन्तु उस व्यवस्था से क्या राज्य की शक्ति का न्यूनन होता है? क्या इससे राज्य का विनाश होता है? या क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इससे राज्य की हत्या होती है? अपने पूर्व-वक्ता महोदय से ससम्मान मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि मेरा ऐसा ख्याल है कि उन्होंने

[श्री ज़ैड. एच. लारी]

अपने राज्य के नागरिकों के सम्बन्ध में बड़ा ही अनुदार दृष्टिकोण अपना रखा है और उससे भी अधिक अनुदार दृष्टिकोण है उनका अपने उस राज्य की शक्ति के सम्बन्ध में जो कि विधान के प्रयोग में आने पर यहां स्थापित होगा। इसमें शक नहीं कि हमें वास्तविकताओं को ध्यान में रखना होगा; कठोर सत्यों को हमें ध्यान में रखना होगा, किन्तु सभा को मैं एक बात की याद दिलाना चाहता हूं। अमेरिका में इस खण्ड को विधान में रखा गया है और जापानी विधान में भी इसी को अपना लिया गया हैं। आप जानते हैं जापान के विधान-निर्माण का काम अमेरिकनों ने किया है। अमेरिकनों ने जापान के लिए जो विधान बनाया है वह एक तानाशाही देश के लिए बनाया है जहां व्यक्ति स्वभावत: हिन्सोन्मुख है। जापान के लोग विश्व-शान्ति को दूर कर देना चाहते थे। ऐसे देश के लिए, ऐसे लोगों के लिए विधान बनाते समय भी उन्होंने खण्ड 31, 32, 33, 34 जैसे खण्डों को उसमें स्थान दिया जिनमें यह कहा गया है कि हर व्यक्ति को इन्साफ के लिए अदालत के पास जाने का हक है, जिसमें यह कहा गया है, किसी व्यक्ति को गिरफ्तार न किया जायेगा जब तक कि उसकी गिरफ्तारी का कारण न दिखाया जाये और हर व्यक्ति को सफाई के लिए वकील की सहायता पाने का हक है। मैं यह कहूंगा कि जब इस नवीनतम विधान—जापानी विधान—के निर्माताओं ने अनुभव के आधार पर, जापानियों के स्वभाव को जानते हुए भी, जो शान्तिप्रिय नहीं है, जैसा कि गत महायुद्ध में प्रकट हो चुका है, इन प्रावधानों को उनके विधान में स्थान दिया है तो इससे स्पष्ट है कि ये प्रावधान समय की कसौटी पर खरे उतर चुके हैं और इन्होंने व्यक्तियों के स्वातंत्र्य की रक्षा की है, राज्य की महिमा को उसकी पूर्णता को भी सुरक्षित रखा है। हमें दो बातों को सामने रखकर चलना होगा। एक तो यह कि दूसरों के अनुभव क्या हैं। इसमें शक नहीं कि हम प्रत्येक खण्ड की, एक न एक बात को लेकर आलोचना कर सकते हैं किन्तु दूसरे के अनुभवों को सामने रख कर ही इस सम्बन्ध में हमें आगे बढ़ना होगा। हमारे सामने दूसरे देशों के अनुभव मौजूद हैं और उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि "without due process" शब्दों को हम अपना सकते हैं, और उनके कारण राज्य के अस्तित्व पर कोई संकट न आयेगा। दूसरी बात यह है कि हम यह बखूबी जानते

हैं कि यहां ही नहीं बल्कि दुनिया में सभी जगह हर सभा के लिए इस बात की सम्भावना रहती है कि यह अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर बैठे। यह अवश्यम्भावी है। शक्ति लोगों को भ्रष्ट कर देती है। दूसरे देशों के अनुभवों से तथा शताब्दियों से जो हम देखते आ रहे हैं उससे, हमें फायदा उठाना चाहिए। अथवा क्या हमारे लिए यह ठीक होगा कि हम ऐसे लल्लू, बुद्धू के कहने पर चलें जो यह कहते हैं कि इस खण्ड में तो कुछ ऐसी बुराइयां हैं जिनसे राज्य ही ध्वस्त हो सकता है? मैं यह कहता हूं कि ऐसा कहना तो निराधार एक हौआ खड़ा करना है। इस हौआ के डर से हमें यह खण्ड नहीं स्वीकार कर लेना चाहिए। अगर यह खण्ड स्वीकृत होता है तो हमारा समूचा विधान ही निष्प्राण हो जायेगा। यह अनुच्छेद अपने वर्तमान रूप में बिल्कुल व्यर्थ है और समूचे विधान को निर्जीव बना देता है। इस संशोधन को अगर आप नहीं स्वीकार करते हैं तो अपनी भावी सन्तानों की कृतज्ञता खोते हैं। इसलिए मैं यह प्रार्थना करता हूं, श्रीमान्, कि यह संशोधन जिसका कि बहुत से सदस्यों ने समर्थन किया है, अवश्य स्वीकृत होना चाहिए।

इन शब्दों के साथ मैं इस संशोधन का समर्थन करता हूं।

***उपाध्यक्ष:** सभा कल प्रात: 10 बजे तक के लिए स्थगित होती है।

इसके बाद विधान-परिषद् मंगलवार, 7 दिसम्बर सन् 1948 ई. के प्रात: 10 बजे तक के लिए स्थगित हुई।